प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-सघ,
वर्धा



पहला सस्करण : ५,००
नवम्बर, १९५६
मूल्य : बारह आना

मुद्रक :
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
गायघाट, वाराणसी

म नो ग त

सुख की कमबख्ती यह है कि बिना बँटे उसे चैन नहीं।

दस वर्ष पहले, जब विनोबाजी सर्वजनहिताय ज्ञानदेव के भजनों का यह चिंतन मराठी में लिखवाते थे, तो उसी समय इसका हिंदी रूपांतर हमारे हृदय में प्रतिध्वनित होता रहता था। रोज दोपहर दो बजे से चार बजे तक लिखवाने का क्रम था। किसी रोज दो भजन पूरे हो पाते, किसी रोज तीन, तो किसी रोज एक भी न हो पाता। क्योंकि लिखवाते-लिखवाते विनोबा भाव-समाधि में ऐसे लीन हो जाते कि उन्हें इस दुनिया का कुछ भान ही न रहता। कितनी ही देर तक सतत अश्रु-धाराएँ बहती रहतीं। क्या ज्ञानोबा और विनोबा के मिलन का वह प्रेमानंद था? लेकिन ऐसे द्वैत को भी वहाँ गुंजाइश कहाँ? अद्वैत में न तो तू होता न मैं, न आवाहन न विसर्जन। वहाँ तो विशुद्ध स्वरूपानंद ही होता है।—(१४७) वैसा ही वह था।

इस 'चिंतनिका' में उस अनुभव-सातत्य की झाँकी मात्र है। ऐसी महान् और अद्भुत तथा परमकल्याणकारी अनुभूति का सतत साक्षी रहने पर उसे परिवारवालों के साथ या पड़ोसी सुहृद्जनों और परिचितों के बीच बाँटे बिना किसीका दम घुटने लग जाय, तो कोई अचरज नहीं। मेरा तो बराबर घुटता था। इसलिए मराठी में चिंतनिका प्रकाशित होने के करीब एक वर्ष बाद ही इसका यह हिंदी अनुवाद भी तैयार हो गया। अर्थात् उसे प्रकाशित करने की कल्पना उस समय नहीं थी। हिंदी-भाषियों के लिए किसी अधिकारी व्यक्ति के जरिये ही यह कार्य संपन्न होना चाहिए, ऐसी शुरू से मेरी धारणा रही।

फिर ऐसे विषयों का अनुवाद केवल शाब्दिक तो नहीं होता। मेरा मानना है कि वह शब्दों में उतरे, इसके पहले जीवन में उतरना चाहिए। मदालसा के उपदेशों का अनुवाद करके ज्ञानदेव ने एतद्संबंधी स्पष्ट मार्गदर्शन भी कर रखा है।—(६) इस अनुवाद के प्रकाशन में, इसलिए भी मेरा संकोच बढ़ता ही जाता था।

इस बीच जिन-जिनने इसे सुना, उन्होंने या तो इसकी पांडुलिपि से कितना ही भाग अपने लिए लिख लिया, या इसे शीघ्र प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। एक सुहृद् ने तो इसकी तीन पांडुलिपियों में से एक तो रख ही ली और मुद्रण के लिए बराबर आग्रह करते रहे।

यह सारी प्रक्रिया विनोबाजी की आँखों से ओझल नहीं थी। इस बीच एक रोज उनकी आज्ञा हुई कि इसे अब प्रकाशित कर दिया जाय।

लेकिन मुझे अपनी त्रुटियों और मर्यादाओं का पूरा भान था। इसलिए विनोबाजी की आज्ञा के बावजूद मेरा संकोच नहीं मिटा। और इसके पहले कि इसे जनता जनार्दन के चरणों में भेट किया जाय, मैंने उचित समझा कि किसी अधिकारी व्यक्ति की नजरों से एक बार यह सारा गुजर जाय। आचार्य धर्माधिकारीजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार की और बहुत आत्मीयतापूर्वक वे इस अनुवाद को मेरे साथ दुहरा गये। जो महत्त्वपूर्ण दुरुस्तियाँ उन्होंने सुझायी हैं, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

इसमें जगह-जगह पंढरपुर के विठोबा का जिक्र है। विट्ठल याने विष्णु के अवतार। पुंडलीक की पितृभक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु स्वयं पुंडलीक को दर्शन देने आये। पुंडलीक माता-पिता की सेवा में लीन थे। अपनी साधना को खंडित करना उन्होंने उचित न समझा। पास में एक ईंट* पड़ी थी। भगवान् के आगे पुंडलीक ने उसे ही सरका दिया कि उसके सहारे भगवान् थोड़ी देर विश्राम कर सकें। तब से अनेक संकेतों से भरी वह विट्ठल-मूर्ति कमर पर हाथ रखे, अपने भक्तों को प्रेरणा देती, वहीं खड़ी है।

अनुवाद में एक स्थान पर (पृष्ठ ८०) देवता शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि हिन्दी में वह पुल्लिंग ही है। संस्कृत और मराठी, दोनों में उसका रूप स्त्रीलिंग है और अनुवाद की सरलता

---

* मराठी में ईंट को वीट कहते हैं। 'विट्ठल' शब्द इसीसे बना है।

के लिए उसका वही रूप यहाँ रखा है। आशा है, हिन्दी जगत् उदारतापूर्वक इतना स्वातंत्र्य सह लेगा।

वास्तव में इस चिन्तनिका का पाथेय देकर विनोबाजी ने मानव-जाति पर महान् उपकार किया है, क्योंकि इस चिन्तनिका के निमित्त हमें एक ऐसी जीवन-दृष्टि मिलती है, जिससे हमारी सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं।—(३)

इसमें एक ऐसे पंथराज का निर्देश है, जिस पर चलनेवाले पथिक को व्यक्तिगत धनसंचय की संकुचितता छू नहीं पावेगी।—(३६)

निरन्तर घूमनेवाले यात्रिकों के लिए इसमें एक महान् संबल है। ऐसा संबल, जिसके कारण उन्हें पाप से भयभीत न होना पड़ेगा। पाप ही उनसे डरता रहेगा। लेकिन उसके लिए नामामृत से भरी समता की काँवर सतत साथ रखने की आवश्यकता है।—(४७) चिंतनिका की इन पंक्तियों मे अनुभवी गुरु से प्राप्त ऐसी शिक्षा समायी हुई है कि वह शिष्य को सम्पूर्ण स्वावलंबी बना देती है। उसे असंदिग्ध ज्ञान प्रदान करती है–फिर स्वतंत्र प्रतिभा से वह जो कुछ कल्पना करेगा, उसे सिद्ध होना ही है। उसकी प्रतिभा मे किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहेगी। इतनी ऊँचाई पर चढ़ाने की क्षमता उस गुरुकृपा में है।—(५१)

संक्षेप में इसमें सारा जीवन-शास्त्र ही समाया हुआ है।—(४२) और सारा विषय सर्वोदय की अद्यतन परिभाषा में समझाया गया है।—(७४)

ईश्वर-दर्शन के बारे में ज्ञानदेव ने आगाह किया है कि बाह्य जगत् में विज्ञान के प्रकाश में उसकी खोज करने से वह मिलनेवाला नहीं है।

परंतु ज्ञानदेव बहुत ज्यादा आध्यात्मिक चर्चा करने के पक्षपाती भी नहीं हैं।

शांतमनसा, हृदयाधिष्ठित परमेश्वर को निहारने और ध्याने की अनुभवभरी सलाह वह देता है।—(१२६)

मैंने अनुभव किया है कि भू-दान-पथ के यात्रिकों के लिए यह ग्रंथ अनुपम पाथेय है। विशेषतया जब कि हमें सत्याग्रह की सौम्यतर और सौम्यतम प्रक्रिया का प्रयोग करना है।

वास्तव में सहानुभूति के बिना सत्याग्रह की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ज्ञानदेव के शब्दों में सहानुभूति की प्रक्रिया विनोबा ने यों समझायी है :

"सबके हृदय की आर्तता, सबका दुख, मेरे हृदय में प्रतिबिंबित होता है। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि यह सारा विश्व मेरा ही शरीर है। और वह भी ब्रह्ममय है। सबको प्रिय लगनेवाला प्रेम मैं ही हो बैठा हूँ। अपना प्रीतिभंग न होने पावे, अपने मनोरथ सफल हों, इसके लिए उस-उस प्राणी को जो छटपटाहट होती है, वह सब मुझे ही होती है।...

मुझे क्षुद्र कोई मिलता ही नहीं। जो कोई मिलता है, आकाशवत् विशाल और महान् ही मिलता है, भले ही वह क्षुद्र माना हुआ जंतु ही क्यों न हो। असंख्य आकाश एक-दूसरे से मिल रहे हैं, ऐसा है मेरा अद्भुत दर्शन !"

अधिकार-वाणी से भूमि और संपत्ति का भाग विनोबाजी क्यों माँग सकते हैं और भूमिवान् तथा संपत्तिवान् विनोबा के चरणों में सहज भाव से अपना सर्वस्व समर्पण क्यों और कैसे करते जा रहे हैं, इसका रहस्य समझने के लिए उपर्युक्त पंक्तियाँ पर्याप्त हैं।

ज्ञानदेव का, और उसके निमित्त विनोबा का आशीर्वाद है कि इस चिंतनिका के आधार से किसी न किसी रोज देहरूपी परदे का आच्छादन दूर होगा। देह आत्मा की ज्योति प्रकट करनेवाला एक दीपक ही बन जायगा। उस दीपक के प्रकाश में जहाँ निगाह पड़ेगी, सब ओर दीये ही दीये नजर आयेंगे —आत्मज्योति से प्रज्ज्वलित दीये।—(१०६)

दामोदरदास मूँदड़ा

गांधी जयंती
२-१०-'५६

'चिन्तनिका' में चिन्तन का स्वरूप एक ही प्रकार का नहीं है। उसमे कहीं सविस्तर भाष्य है, कहीं संक्षिप्त सार है, कहीं सरल अनुवाद है, तो कहीं स्वैर संचार है। चिन्तनकर्ता को जब जिस भाव का स्फुरण हुआ, वह उसने बिना झिझके दे दिया है। एक प्रकार से यह स्वतंत्र ही रचना है। यद्यपि उसकी योजना बालकों की मदद के लिए ही हुई है, तथापि संभव है कि बहुतों को स्वतंत्र रूप से इसका अधिक उपयोग हो। ज्ञानदेव के भजनों का इसी प्रकार से चिन्तन होना चाहिए, ऐसा आग्रह नहीं है। बल्कि जिस-जिसके लिए संभव हो, वह अपनी जीवन-शुद्धि का लक्ष्य रख स्वतंत्र रूप से चिन्तन करे, ऐसी इच्छा है। यह 'चिन्तनिका' केवल दिशा-सूचन करनेवाली है।

—मराठी प्रस्तावना से

विनोबा

अनुक्रम

ज्ञानदेव-चिन्तनिका

: १ :

साधना

१. हे पुत्रराय जागो !

— १ —

नरदेह एक अनमोल रत्न है ।
मानो वह ब्रह्म-बीज ही है ।
उसमें आत्मज्ञान की शक्यता है, जो सब प्रकार से निर्भय है;
और उसे सिद्ध करने में ही मनुष्य का चातुर्य है ।

ज्ञानदेव का कहना है कि वह आत्मज्ञान सदा के लिए मेरे हाथ में
आ गया है ।
और, गुरुमुख से प्राप्त शब्दों में, मैंने उसे सँजोकर रखा है ।

— २ —

ज्ञान-बीज-रूप नर-देह, आठों अंगों से उज्ज्वल मोती ही है;
पूर्व पुण्य से ही प्राप्त हुआ करता है !
वह मोती हाथ से निकल जाने पर पछताने में अर्थ नहीं !
समय रहते ही, सचेत होकर, उसकी सहायता से, मुकाम पर पहुँचना चाहिए;
प्रभु-दर्शन करना चाहिए।

— ३ —

घाव सपने में, लेकिन पीड़ा सचमुच की।
जागने पर दोनों ही मिथ्या साबित होती हैं।
हूँ अपनी ही जगह, लेकिन आत्मोद्धार का प्रयत्न नहीं करता,
और लोगों से पूछता फिरता हूँ, कि मेरी गति कौन
ईश्वर की इच्छा से और गुरु-कृपा से।
जीवन-दृष्टि प्राप्त होने पर
सारी पहेली ही हल हो जाती है।

— ४ —

जन्म पाकर मनुष्य, आप ही अपना वैर करता है।
मै देह, पुत्रादिक मेरे, ऐसी कल्पना करके,
शुक-नलिका न्याय से अपने-आपको बाँध लेता है।
काम, क्रोध, मत्सर के पाश से अपने को जकड़ लेता है।
और, आभासिक इंद्रिय-सुख में फँसकर,
परिणाम में दु:ख भोगता है।
केवल शाब्दिक ज्ञान के द्वारा इससे छुटकारा संभव नहीं।
दीर्घ काल तक सतत साधना का अभ्यास करते रहना चाहिए।
तभी अंत में ब्रह्म-दर्शन की प्राप्ति होकर छुटकारा हो सकता है।

— ५ —

इंद्रियों के चक्कर में पड़ने का अर्थ है, दीनता का स्वीकार।
उनका ही कभी समाधान हुआ नहीं,
तब वे तेरा समाधान क्या करेंगी ?
सपने का धन,
मृग-जल का नीर,
बादल की छाया,
और इंद्रियों का सहारा,
सबकी कीमत समान ही।
इसलिए इनका पीछा छोड़कर अपनी फिकर कर;
तेरा जीवनाधार है अंतरात्मा श्री हरि।
उसका चिंतन किये जा;
उसमें सुख की राशियाँ छिपी हुई है।

— ६ —

मदालसा अपने बालक को उपदेश दे रही है :
बेटा ! जागो—
गुरु की शरण लो, देह-बुद्धि त्यागो; जन्म-मरण की यातना से बचो ।

अनेक योनि धारण करने और छोड़ने में
शक्ति का निष्कारण क्षय होता है ।
मानो एक सुदीर्घ यातना ही है ।
गर्भवास तो पराधीनता की पराकाष्ठा ही है ।
और पराधीनता के समान दूसरा दुख कौन-सा हो सकता है ?

फिर इतना सब करके भी क्या कमाओगे ?
कुछ विषय-संपादन कर लोगे,
तो मधुमक्खियों का मधु लोग लूट ले जाते हैं,
उसी प्रकार, ये इंद्रियाँ, उस सारे विषय को लूट लेंगी ।
और तू नग्न हो जायगा ।

इसलिए यह उपदेश सुन,
उससे तुझे सुख मिलेगा ।

वास्तव में सुजान के लिए इस दुनिया में उपदेश ही भरा पड़ा है ।
लेकिन अजान भ्रम में पड़ जाता है ।
अतः उसे प्रकाश नहीं मिलता ।
इसलिए ज्ञानदेव ने मदालसा के उपदेश का अनुवाद किया है ।

जिसे अनुभवी गुरु का अनुग्रह प्राप्त हुआ,
वह उसका मर्म सहज ही समझ लेगा ।
इसके श्रोता का अवश्य उद्धार होगा,
क्योंकि स्वयं गायक का हो चुका है ।

२. शुद्ध-मार्ग से साधना की जाय

— ७ —

चोरों की संगत में रास्ता चलना, क्या आत्मघात ही नहीं है ?
काम-क्रोध-लोभरूप त्रिकूट के साथ परमार्थ प्रवेश की कोशिश,
निरा पागलपन ही है ।
देह-गेह संबंधी जो संकुचित कल्पनाएँ हृदय में सँजोकर रखी हैं,
उन सबको त्यागकर,
चित्त-शुद्धिपूर्वक, ज्ञान-साधन का आचरण किया जाय, तभी तारण है ।
अन्यथा बीच में ही घात होगा ।

— ८ —

मनुष्य का मुख्य वैरी है—अर्थ-लोभ:
अर्थ-लोभ के कारण मनुष्य मित्रों को भी खो बैठता है ।
भला, अर्थ-लोभ किसलिए ?
गृहस्थी में कठिनाई न हो इसलिए ।
परन्तु परमेश्वर के भक्त ने सांसारिक कठिनाई कभी जानी ही नहीं ।
वह तो दुनिया भर में मित्र जुटाता ही जायगा ।

— ९ —

नरदेह से प्राणीमात्र की प्रेमपूर्वक सेवा हो सकती है ।
उसे टालकर निर्जीव मूर्ति के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्रादि करता बैठता है।
क्या उपयोग ?
दर्शन चाहिए, तीर्थों के तीर्थरूप आत्माराम का,
जो हृदय-मंदिर में छिपकर बैठा है ।
उसके लिए एक ही उपाय है, हृदय-शुद्धि
और निकटवर्ती जीवसृष्टि की सेवा ।
उधर ध्यान न देगा, तो यही होगा
कि ऐसा मानव-देह पाकर भी मौका खो दिया ।

— १० —

भक्ति के बिना, तीरथ, बरत, नियम आदि,
उपाधियाँ ही सिद्ध हुआ चाहती हैं ।
भक्ति होगी तो भगवान् हस्तामलकवत् हैं ।
बिना भक्ति के, लाख जतन कीजिये,
हाथ नहीं लगेगा;
जैसे जमीन पर फैला हुआ पारा ।

ज्ञानदेव कहता है,
कि यह भक्ति की बाट दिखाकर,
निवृत्तिनाथ ने, मेरे लिए,
अति दुर्गम निर्गुण तत्त्व भी सुगम कर दिया है ।

— ११ —

आचरण विना और अनुभव विना,
केवल श्रवण से आत्मज्ञान की माधुरी का पता कैसे चले ?
जन्म से अन्धा रतन की परख क्या करेगा ?
पुराने ज्ञानियों की सिर्फ कथाएँ किस काम की ?

असल बात तो तब सधेगी
जब हम खुद आत्मज्ञान प्राप्त करके
ईश्वर-चरणों को पक्का पकड़ सकें ।

बाहर अखंड प्रवृत्ति चल रही है,
भीतर अखंड निवृत्ति है,
और दोनों मिलाकर स्थिति एक है,
ऐसा होता है ज्ञानी पुरुष का जीवन ।
उसका हमेशा ईश्वर के साथ ही एकांत होता है ।
द्वैत-अद्वैत की शाब्दिक चर्चा के लिए वहाँ अवकाश ही नहीं है ।
यह सारा, प्रत्यक्ष अनुभव के सिवा कैसे मालूम होगा ?

— १२ —

कैसे पहचाना जाय कि वेदाध्ययन उत्तम हुआ है ?
हृदय में निरंतर नारायण का स्मरण रहने लगे तब !
जप, जाप्य, होम आदि वेद-रहस्य तो नहीं है ।
बल्कि अंतःकरण में हरि जाग जाये
तो इन सबकी आवश्यकता ही वह हर लेता है ।
ब्रह्म में स्थिर रहकर,
जीवन ब्रह्ममय करने की कला को साध्य करने का वेद-रहस्य
साधु-मुख से मालूम हुआ करता है ।
हृदयस्थ हर को जगाने के लिए ही तो वेदादिकों का जन्म है ।

— १३ —

श्रद्धा बिनु भक्ति नहीं,
और भक्ति बिनु मुक्ति नहीं ।
बल-संपादन के बिना शक्ति कैसे प्राप्त हो ?
भागदौड़ छोड़ शांत होकर रह,
तब पता चलेगा कि देवता कैसा तुरन्त प्रसन्न होता है ।
तेरी यह सब भागदौड़ चल रही है साधना के नाम पर
लेकिन है वह प्रपंच की ही,
क्योंकि उसमें भक्ति की आर्द्रता नहीं है;
इसलिए तू श्रद्धापूर्वक हरि से लौ लगा ।
जिससे गृहस्थी का बाँध टूटेगा,
और साधना की बेचैनी भी शमेगी !

३. चित्त-विकास-योग

— १४ —

शांति, क्षमा और दया की उत्तम परिपक्वता संपादन कर;
और आगे जब उनकी भाप शांत हो जाय,
तो चैन से विश्वात्मैक्य का आनंद भोगता रह।
बाधा कुछ भी नहीं।
क्योंकि यह सब सहज ही चिदानंद रूप है।
मोह-माया में फँसकर गफलत से इन्द्रियों के अधीन मत हो।
बस इतना काफी है।
कल्पना की कजली निकाल दे
और दीये से दीया जलाकर सारी दुनिया को उज्ज्वल कर।

— १५ —

ज्ञानदेव को एक बार एक जंगम गुरु मिला था।
उसने अपने शास्त्र का सार थोड़े में बतला दिया :
मन एकाग्र कर, वन मत खोज,
कारण परमेश्वर पास ही है।
अभिमान छोड़ दे
या फिर सबके लिए समान अभिमान रख।
इतने से तेरी सारी छटपटाहट शांत होगी।
प्रकृति को पार करेगा,
और अमृत-जीवन पायेगा।

— १६ —

नटखट मन यूँ ही आवारा भटकता रहता है।
बड़ों-बड़ों के भी काबू में नहीं आता।
इसलिए अंत में गुरु की ही शरण लेनी पड़ती है।
मन अगर किसी तरह हरि-चरणों में स्थिर हो जाय
और वहाँ की अमिट मिठास चख ले,
तो सारा काम ही वन जायगा।
क्योंकि फिर, 'मैं-तू' पन ही शेष नहीं रहेगा।
परंतु सहसा यह सधता नहीं।
उसके लिए ज्ञानदेव ने एक निराली ही युक्ति सुझायी है।
ज्ञानदेव कहता है:
मन को सृष्टि में भटकने दें,
और खुद साक्षी रूप से, मन से अलग होकर हरि-शरण रहें।
भीतर हरि की गाँठ अगर पक्की हो
तो मन को बाहर भटकने देने से
मन की शक्ति को जगत्-सेवा के लिए
और तदुपयोगी ज्ञान-संपादन के लिए
सहज ही जोता जा सकता है।

— १७ —

मन की भावनाओं की रुचि में ही मनुष्य रमता है ।
लेकिन उन भावनाओं सहित मन जब परिपक्व होता है
तब जो कुछ शेष बच जाता है
उसका मजा कुछ और ही है ।

यह ध्यान में तो आता है,
लेकिन न तो उतना धीरज धरा जाता है
और न वैसी साधना बन आती है
इसलिए अनुभवी संतों की सेवा करके उनसे पूछना चाहिए ।

ज्ञानदेव, जिसे निवृत्तिनाथ की कृपा प्राप्त है,
स्वानुभव से यह कह रहा है ।

— १८ —

नाम-संकीर्तन करते-करते ज्ञानदेव जब निर्णयात्मक समाधि लगाकर बैठा,
तब, उसने हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए वरदान मांगा :

वृत्तियों सहित मेरा अहंकार लुप्त हो ।
मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति में निवृत्ति की छाप पड़ने दे ।
मेरा मन तेरे चरणों में रहने दे ।
मेरे देहेंद्रियादि सब तू ही बन जा
मेरी कीर्ति मत बचने दे ।
दया-क्षमा-शांतिरूप सिद्धि भी मुझे उपाधिरूप प्रतीत होने लगी है ।
इसलिए मुझे केवल तेरे नाम की समाधि प्राप्त हो ।

— १९ —

ईश्वर को खोजते-खोजते आगे-आगे जायँ।
तो आखिर ध्यान में आता है कि वह हृदय में ही है।
इसलिए अब तू बाहरी खोज में मत पड़।
चित्त का विकास कर,
और उसीके भीतर खोज।
चित्त-चतुष्टयरूप चार भुजाओं से सुशोभित वह प्रभु
तुझे हृदय-मंदिर में विराजमान दिखाई देंगे।
विज्ञान का अहंकार त्यागकर उसके चरणों में लीन हो जा।
चिंतन के तट पर पहुँचकर निरखा गया वह प्रभु ही,
फिर सहज, शांतिपूर्वक, अनायास दिखाई देता रहेगा।
ज्ञानदेव के हृदय में बिलकुल निकट से निकट वही रूप जम जाने के कारण,
दुःखरूप माना गया प्रपंच उसे सुखरूप हो गया है।

— २० —

हम नित्य संन्यासी हैं।
समाज में रहते हुए भी एकांत में रहते हैं।
छोड़ने की चीजें भीतर ही थीं; वे सब छोड़ दीं।
चित्त की संगत छोड़ी,
अज्ञान का सम्पर्क छोड़ा,
सोहंता का भी अभिमान छोडा।
अब बाहर-भीतर केवल ईश्वर ही शेष रहा।
इसलिए छोड़ने की कल्पना भी छूट गयी।

४. लीला-विनोद से संसार तर जायें

— २१ —

प्रीति और श्रद्धा से, ईश्वर का नाम लेकर,
शुभ कार्य का आरंभ करने से, वह कर्म फलता ही है।
कारण ईश्वर के नाम से बुद्धि नि:शंक होती है।
और कर्म में हार्दिकता दाखिल होती है।
नि:शंक बुद्धि से और हार्दिकता से किया गया कर्म
कैसे सिद्ध नहीं होगा?

— २२ —

ईश्वर का नाम अवश्य पतित को पावन करनेवाला,
और पुण्यवान् को मांगल्य देनेवाला है।
मंगल निधि ही है वह।
सच्ची भावना से समुदाय के साथ,
कार्यारंभ में और सदा सर्वदा
रटते ही रहना चाहिए।

— २३ —

राम और कृष्ण भगवान् के ये दोनों नाम अति सुन्दर हैं।
एक सत्यमूर्ति, एक प्रेममूर्ति।
दोनों मिलकर एक ही।
हृदय-मंदिर में उसकी स्थापना कर,
ताकि बंधन सारे टूट सकें,
और तेरी ही शक्ति से तेरा छुटकारा हो।
ध्यान करते समय, ज्ञानदेव वाणी से ये नाम जपता है।
और हृदय में उभयरूप-मंडित श्री मूर्ति का चिंतन करता है।

— २४ —

आदमी जब एक बार कर्म-विपाक-प्रक्रिया में फँस जाता है,
तो पूरी तरह छुटकारा कभी हो ही नहीं पाता।
ईश्वर-भक्ति कर्म-विपाक से छुड़ाती है।
यही उसकी विशेषता है।
अखंड काम करते हुए कर्म-विपाक से अलिप्त रहना ही मुख्य जीवन-कला है।
और ईश्वर के नाम से वही सधती है।
इसलिए, बाहर से कर्म-योग का आचरण हो,
भीतर निरंतर चिंतन हो,
और राम-नाम की पक्की शरण रहे।

जो सबका है, और सबके भीतर है,
उसका आकलन होना चाहिए।
अर्थात्, व्यक्ति का अहंकार, व्यक्ति का नाम, लोपना चाहिए।
इसलिए
वाणी को राम-नाम का छंद लगा रहने दे।
उसकी शरण में जा,
तो तेरे व्यक्तित्व का लोप होकर तू अमर हो जायगा।
निवृत्ति की कृपा से ज्ञानदेव हरि-नाम पा चुका।
वह हरि-नाम से चिपट गया।
और अपना व्यक्तित्व भूलकर संत-समाज के साथ समरस हो गया।

— २५ —

जो प्रतिदिन क्षणभर भी भगवान् के द्वार पर खड़ा रहता है,
वह मोक्षाभिमुख हो गया।
वाणी भगवान् का द्वार बन सकती है।
मनुष्य को प्रपंच में भले ही रहना पड़े,
फिर भी, वाणी में वह प्रपंच न भरे।
वाणी की योजना हरि-नाम की ओर ही करें।
व्यासादिक गवाह हैं—
कि भगवान्, नाम-स्मरण करनेवाले के वशीभूत हो जाते हैं।

— २६ —

तत्त्वज्ञान की चर्चा करके-
अनेकों ने अनेक तत्त्व खोज निकाले है।
लेकिन, नाम, सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ तत्त्व है।
इसलिए अन्य मार्ग छोड़कर, अंतःकरणपूर्वक,
वाणी से नाम-जपन चलता रहे।
ज्ञानदेव तो निरंतर अन्तःकरण में मौनपूर्वक हरि-नाम जपता
रहता है।

— २७ —

सांख्य-मार्ग द्वारा पचीस तत्त्वों का विश्लेषण करें ।
लेकिन इतना करने पर भी अंत में,
तत्त्व-सार-रूप हरि को प्राप्त किया,
तब ही कहा जायगा कि विश्लेषण की वह कला सधी ।
नाम-स्मरण में ऐसी कोई झंझट है ही नहीं ।
क्योंकि वहाँ आरंभ से ही भगवान् से संबंध है ।

योगमार्ग से प्राण ऊर्ध्वगामी करके,
अनाहतस्वरूप अजपा का जप करें ।
लेकिन वह भी मन के निश्चय के बिना नहीं सधेगा ।
नाम-स्मरण में तो मन का निश्चय
पहले से ही है ।

इसलिए, नाम-स्मरण ही पंथ-राज है,
उसके बिना जीवन व्यर्थ है ।

— २८ —

सर्व-सार-रूप हरि-नाम जीभ पर नाचता रहे, इसके जैसा भाग्य नहीं ।
उसे समय या मुहूर्त का भी कोई बंधन नहीं ।
दोषापहारी हरि-नाम,
गायक, और श्रोता—दोनों का उद्धार करनेवाला है ।
ज्ञानदेव को नामपाठ सांगोपांग सधा है ।
अतः उसके पूर्वजों के लिए, ऋषि-मुनियों के लिए भी,
मोक्ष-मार्ग आसान हुआ है ।
अन्यथा कैसी-कैसी कठिन साधना उन्हें करनी पड़ती थी ।

— २९ —

हरि-नाम-स्मरण में ज्ञान और अज्ञान का विशेष मूल्य नहीं है।
मुख्य वस्तु है भाव।
भावपूर्वक हरि-नाम का उच्चारण करते जाने से,
अनजाने हृदय की शुद्धि होती ही जाती है।
नाम-स्मरण के इस जादू का आकलन
वेद भी पूरी तरह नहीं कर पाये हैं।
फिर सामान्य जीव उसे कैसे समझ सकेगा ?
नाम-स्मरण से यह जगत् ही, वैकुंठ-स्वरूप मोक्षधाम हो जाता है।

— ३० —

साधक के लिए यह अनिवार्य है कि यम-नियमपूर्वक चित्त का
निरोध करे।
उसके लिए एक शास्त्रीय उपाय भी बतलाया गया है—
अभ्यास-वैराग्य-युक्त अष्टांग-योग का।
लेकिन योगशास्त्र का ही कहना है कि योग द्वारा सधनेवाला
यह काम
ईश्वर-प्रणिधान से सुगमता से सधता है।
इसलिए ज्ञानदेव कहता है :
हरि-नाम गाओ, सुनो, उसमें तन्मय हो जाओ,
और सहज, लीलया, संसार पार कर जाओ।
शास्त्रीय उपाय कठिन हैं :
तो इस सुलभ उपाय को तो कम-से-कम अवश्य आजमाओ।

सत्रह

९. एक नाम हरि, द्वैत नाम दूरी

— ३१ —

शरीर जायगा,
संपत्ति जायगी,
सृष्टि जायगी,
आखिर काल भी जायगा,
परंतु ईश्वर का नाम नहीं जायगा।
क्योंकि प्रभु, जो सबका मूलाधार है,
अपने अधिष्ठान पर सनातन खड़ा ही है।
तथा वह और उसका नाम एक ही है।

— ३२ —

ईश्वर का नाम साधना के लिए बीज-रूप होने के कारण,
प्रारंभ से अंत तक, सभी भूमिकाओं के लिए, हर भूमिका के अनुरूप,
उपयोगी है।
इसलिए शंकर जैसे ज्ञानी,
ध्रुव, प्रह्लाद जैसे भक्त,
और सामान्य अज्ञान जीव,
नाम का आश्रय लिया करते हैं,
और वह नाम, उनकी अपनी-अपनी वासना के अनुसार,
उन्हें भुक्ति-मुक्ति, शांति आदि जो चाहिए, देता रहता है।
लेकिन, ऐसे सर्व-सार-रूप हरि-नाम की ओर दुर्लक्ष्य करके,
हम अपना इहलोक व्यर्थ गँवा रहे हैं।
इसलिए ज्ञानदेव कहता है :
भगवान् ही अब हमारी रक्षा करें।

— ३३ —

जिन्होंने अपना जीवन ही हरि-नाम पर रचा है,
नाम जिनके लिए नित्य नियम बन गया है,
ऐसे लोग बहुत कम;
इसके विपरीत, विकारों से परिपूर्ण,
नाम-विहीन, मृतप्राय लोग ही अधिकतर हैं।
ज्ञानदेव ने एक बार निवृत्तिनाथ से पूछा :
आकाश सबसे व्यापक है;
आकाश से क्या व्यापक है ?
'आकाश से नाम व्यापक है !'
निवृत्तिनाथ ने जवाब दिया।

— ३४ —

ऊँच-नीच भाव का लोप और घट-घट में राम-दर्शन,
यही तो सारी साधना और धर्माचरण का फलित है !
तू निःशंक होकर इसे ही पकड़,
और नाम की लौ लगा।
जाति, कुल, गोत आदि सारे भेद-भावों को भूलकर
तीव्रता से भक्ति-प्रेम का आश्रय ले,
जिससे यहीं, इसी जगह, वैकुंठ निर्माण हो सके।

— ३५ —

नाम-विमुखता ही असली पाप है।
इसको धो डालने के लिए कोई भी तीरथ काम आनेवाला नहीं है।
किन्तु अगर नाम-स्मरण रहा,
तो बड़े-से-बड़े पाप में से भी उद्धार हो सकता है।
वाल्मीकि आदि के उदाहरण से यह स्पष्ट हुआ है।
इसलिए ज्ञानदेव का कहना है :
कि आस्थापूर्वक नाम लेते रहो।
इससे तुम्हारा पाप तो नष्ट होगा ही,
अपने पीछे तुम एक विशुद्ध परंपरा का निर्माण कर जाओगे।

— ३६ —

'मुख में नारायण का नाम और कर में भूतदया का काम'
थोड़े में भक्ति-मार्ग का लक्षण यों किया जा सकता है।
'नारायण'—बस इस एक शब्द में
भक्तों का ज्ञान, ध्यान, जप, सब कुछ आ जाता है।
नारायण नर-समुदाय का देवता है।
इसलिए, 'नारायण' नाम भूतदया और समाज-सेवा का उद्घोष है।
संकुचित भावना के कारण,
संसार में व्यक्तिगत धनादि संचय करने की वृत्ति होती है।
परंतु नारायण-नाम अर्थात् भूतदया ही,
संसार की नगरी में उपयोगी सर्वोत्तम धन है।
यह है निवृत्तिनाथ का कथन,
और यही एक लगी है ज्ञानदेव को लगन।

— ३७ —

वेदों के अनेक मार्ग बतलाये है ।
शास्त्रों में अनेक दुर्गम चर्चाएँ की गयी हैं ।
पुराणों में अनेक कथाएं भरी पड़ी है ।
उन सबका नवनीत है मात्र ईश्वर-दर्शन ।
एक ही परमेश्वर आत्मरूप से सजा है ।
जीव भी वही है, और शिव भी वही है ।
वही सर्वत्र लबालब हैं ।
बस इतना याद रख ।
और बाकी भले ही सारा भूल जा ।

— ३८ —

"हरि" कहते ही सारे पापों का क्षण में हरण होता है ।
"हरिनाम" मंत्र के आगे, भूतबाधा ठहर नहीं सकती ।
कारण, इस भौतिक सृष्टि को ही आत्मिक स्वरूप देनेवाला है वह मंत्र ।
उसका सामर्थ्य अगाध है ।
उसकी गहराई न नाप सकने के कारण, उपनिषदों को भी,
"नेति नेति" कहकर मौन स्वीकारना पड़ा है ।

— २९ —

"हरि" सर्व-व्यापक और सब शरीरों में विराजमान है।

लेकिन, यह मनुष्य के ध्यान में नहीं आता।

और वह अकेले अपने ही शरीर में उलझा रहता है।

फिर परमार्थ कड़ुवा लगता है और स्वार्थ मीठा लगता है।

इस तरह परस्परविरोधी स्वार्थों में झगड़ा शुरू होता है।

संसार कठिन हो जाता है।

जिह्वारूप धनुष में हरिनाम का तीर लगाकर तन्मयता से निशाना साधिये,

कि व्यापक तत्त्व हस्तगत हुआ।

अर्थात् इसके लिए जरूरत है साहसी और सुसज्ज प्रतिभा की।

वह रही तो व्यापक बुद्धि का लाभ होता है।

और, प्रेमरूप वैकुंठ बिलकुल समीप याने हृदय में ही दिखाई देने लगता है।

इस प्रकार सारे झगड़ों और पापों का छेदन हरिनाम से हुआ करता है।

ज्ञानियों को इसका ज्ञान है,

और ज्ञानदेव को ध्यान है।

— ४० —

परम-शांति पाये हुए निवृत्ति-गुरु ने ज्ञानदेव को हरिनाम का मंत्र दिया,
और कहा कि ईश्वर-प्राप्ति के सारे मार्गों में
नाम-स्मरण का मार्ग अत्यंत सरल और अनूकूल है।
स्थिर-बुद्धि-रूप समाधि,
कर्म-योग की साधना,
दया, शांति आदि दैवी-संपत् के गुण,
भूतमात्र में समत्व-रूप भक्ति,
यम-दमादि योग,
और अंत में, अज्ञान का निरसन करनेवाला ज्ञान-विज्ञान
सारांश, सारे साधन और सिद्धियों का समावेश
हरिनाम में हो जाता है।
हरिनाम ही नवजीवन देनेवाली मधुर संजीवनी है।

तेईस

— ४१ —

एक हरि का नाम लिया,

तो फिर लेने के लिए दूसरा नाम शेष रहता ही नहीं।

हरिनाम में अद्वैत की यह जो खूबी है,

उसे कोई विरला ही जानता है।

समबुद्धि से हरिनाम लिया जाय,

और सर्वत्र हरि समान रूपेण भरा हुआ देखा जाय।

फिर वह हरि—

यम-दमों का मानो वैरी ही बन जाता है।

क्योंकि फिर यम कहता है, किसका यमन करूँ

और दम कहता है किसका दमन करूँ।

ऐसी स्थिति हो जाती है।

सूर्य सहस्र किरणों से त्रिभुवन व्यापता है,

उसी तरह आत्माराम सब शरीरों में व्याप्त है।

ज्ञानदेव को हरि-पाठ के नियम ने यह दर्शन करा दिया।

नतीजा यह हुआ कि उसके सारे भावी जीवन कट गये।

— ४१ —

अब तुम्हें सारा जीवन-शास्त्र संक्षेप में बतलाता हूँ :

पहली बात यह कि एक क्षण के लिए भी खाली मत रह ।

गृह-प्रपंच को फिजूल महत्त्व मत दे ।

नाम-स्मरण का संकल्प पक्का रख ।

अहंता और ममता छोड़,

इन्द्रियों का लाड़ मत कर,

तीरथ-बरत आदि साधन-मार्गों के बारे में आस्था रख;

दया, क्षमा और शांति को मत भूल ।

आये अतिथि को हरि ही जान ।

निवृत्तिनाथ की यही सिखावन है ।

और ज्ञानदेव के लिए वह प्रमाण है ।

सर्वशास्त्रों का रहस्य और सर्वसुखों का सार उसमें संचित है ।

हरि-पाठ के ये सब सहचारी भाव होने के कारण वह समाधि-

संजीवन ही बन गया है ।

६. ज्ञानदेव को सज्जन-संगति में रुचि है

— ४३ —

संतों के मिलन से ज्ञानदेव को सुख, प्रेम, आनंद, हर्ष,
सब इतना होता है कि उसमें उसका अहंकार ही खत्म हो जाता है।
उनका आलिंगन करते वक्त उसे अपने दो स्थूल बाहु अपूरे पड़ते हैं।
और, मदद के लिए, हृदय में से मानो दो सूक्ष्म बाहु और निर्माण होते हैं।
अर्थात् संतों के मिलाप से जीव के जीवत्व का लोप होता है।
मानो उसे चतुर्भुज ईश्वर की पदवी प्राप्त होती है।
महानता इससे अधिक क्या हो सकती है ?
लेकिन इसमें कोई आश्चर्य नहीं
क्योंकि आपके कृपा-कटाक्ष से जीवों को निज-पद की प्राप्ति होगी।
ऐसा वरदान ही दे रखा है, भगवान् ने संतों को।

— ४४ —

संतों की भेंट महान् पूर्व-पुण्य से प्राप्त होती है।
उनसे मिलने का आनन्द सामान्य नहीं,
क्योंकि भव-दुःख ही उससे रफा हो जाता है।
सारे नाते संतों में एक हो जाते है।
वे सही मानों में तीर्थरूप है।
कारण सगुण परमेश्वर उनमें प्रकट है।
ज्ञानदेव के पास उपमाएँ अपूरी पड़ती हैं—
कि वह संत-मिलन के सुख का वर्णन कर सकें।

— ४५ —

भगवद्-भक्त सच्चे योद्धा हैं।
उनके सामने दोष-समूह नंगे वदन ही भाग निकलते है।
अर्थात् दोषों का यथार्थ स्वरूप भक्तों के सामने प्रकट होता रहता है।

उनके हृदय में ईश्वर का सतत चिंतन रहता है।
इसलिए शांति और क्षमा हमेशा उनका साथ देती रहती हैं।
हरि-नाम उनका हथियार,
ईश्वर के अंकित होकर उसके वैभव को वढ़ाना ही उनका शृंगार।
और, वैराग्य उनका वल।
इसलिए षड्रिपुओं का उनके सामने टिकाव ही नहीं।
ऐसे ये निश्चयी वीर ईश्वर को जीत लेते है, जिसमें आश्चर्य क्या ?

— ४६ —

शक्कर के मिठास की परख उसके रसिक ही कर सकते है।
उसी तरह साधुत्व की कसौटी संतों के विना कौन कर सकता है ?
कसौटी पर उतरे हुए सत् पुरुषों की संगत से ही
भगवान् की प्राप्ति होती है।
अन्य घटिया लोगों की संगत में संसार-बंधन वढ़ेगा।
सत्पुरुष, सूर्य-बिंब के समान स्वयं-प्रकाशी और उज्ज्वल, सवके-प्रकाश-दाता,
लेकिन सवसे ऊँचे और अलग, निर्मल और निर्लिप्त होते हैं।
निवृत्तिनाथ की संगति में,
ज्ञानदेव को यह अनुभव हुआ है।

— ४७ —

हम तो निरंतर घूमनेवाले यात्री हैं।
पापों का हमें भय नहीं, बल्कि वे ही हमसे डरते है—
समता की कॉवर लेकर हम चलते हैं,
वह कॉँवर, जो नामामृत से ओत-प्रोत है।
हमें अवांतर तपस्या की जरूरत नहीं।
हम कर्म करें वा न करें
कौन कर्म करें कौन न करें
ये सवाल हमने भगवान् पर सौंप रखे हैं!
इसलिए हमारे दुःखों की समाप्ति हुई है।

— ४८ —

संत-समागम की अपेक्षा किये बिना
स्वतंत्र रूप से योगादि साधन करने जायँ
तो कुछ-न-कुछ बाँका ही होता है।
जाहिर ही है कि भाव बिना भगवान्,
गुरु बिना साक्षात्कार,
तप के बिना देवता की कृपा,
और प्रेम के बिना कल्याण की बात, कहाँ से मिले?
इसलिए ज्ञानदेव ने तो पक्की गाँठ बाँध ली है,
कि "बिना सत्-संग के तरणोपाय ही नहीं।"

— ४९ —

लोग पूछते है :

भक्तों की संगति में कार्यक्रम क्या ?

स्थूल कार्यक्रम के लिए भक्तों के पास जाना नहीं होता है।

वहाँ का कार्यक्रम मुख्यतया मानसिक होता है।

उनकी स्थूल दीखनेवाली क्रिया भी

मानसिक अर्थ से भरी होती है।

वे नाम-स्मरण करते हुए दिखाई देंगे,

लेकिन नाम उनके लिए केवल शब्द नहीं है,

वह उनके जी का भाव है,

उनके लिए वह एक तत्त्व है।

किंबहुना,

वह उनका एक-ही-एक तत्त्व है।

उसी धुन में उनकी सारी साधना चलती रहती है।

योगियों को जीवन की कला सधी होती है।

स्थूल कार्यक्रम भी उनका निश्चित-सा रहता है।

भक्तों के पास नामामृत का माधुर्य रहता है,

उसमें से सारा कार्यक्रम अपने-आप सूझता है।

दोनों वास्तव में एक ही है।
कारण दोनों को द्वैत मालूम ही नहीं
प्रह्लाद में नामस्मरण का उत्कर्ष दीखता है,
तो उद्धव को योगेश्वर कृष्ण गुरु मिले हैं।
उनकी कृपा से वह योगी बना।
दोनों एक ही मुकाम पर पहुँचे।

दोनों में फरक बताना हो तो इतना ही कह सकते हैं,
कि योग का मार्ग कठिन है, नाम-स्मरण का सुगम है।
लेकिन मार्ग स्वयं सुलभ हुआ तो भी
उसकी सच्ची लगनवाला मनुष्य दुर्लभ ही है।

— ५० —

जिसे साधु-मुख से बोध मिला,
वह भिन्न रूप से बचता ही नहीं।
विश्व से एकरूपता का अनुभव करता है।
आगे अनुभव की हद तक भी द्वैत बाकी नहीं रहता
उसका वह अनुभव भी पच जाता है
अग्नि कपूर को जला देता है, और फिर खुद भी नहीं रहता
साधु का सेवक, मोक्ष की पदवी प्राप्त करता है
और फिर उस पदवी को भी छोड़कर
हरिभक्त होकर रहने का भाग्य प्रकट करता घूमता है।
ज्ञानदेव को ऐसे सज्जनों की सोहबत का लालच लगा है।
इसलिए, उसे समाज में, सृष्टि में और अपने हृदय में
हरि-ही-हरि दीखता है।

७. गुरु, संत-कुलों का राजा है

— ५१ —

जिसे अनुभवी गुरु द्वारा शिक्षण मिला,
वह पूर्ण स्वावलंबी बना।
कारण, उसके ज्ञान में, किसी तरह की शंका या अधकचरापन
शेष नहीं रहता।
स्वतंत्र प्रज्ञा से वह जो-जो कल्पना करेगा
वह जगत् में सिद्ध होनी ही चाहिए।
उसकी प्रतिभा में किसी भी तरह की कमी नहीं
ज्ञानदेव का कहना है कि गुरु-कृपा से मनुष्य इतना ऊँचा उठता है।

— ५२ —

ईश्वर के लिए क्या नहीं होगा ?
उसकी इच्छा से पत्थर नदी तैर जायेंगे।
चींटियाँ सूर्य-किरणों पर चढ़ेंगी।
अग्नि-कुंड में फसलें फलेंगी,
दीवारें चलने लगेंगी,
मशक मेरु की बराबरी करेंगे।

ईश्वर के इस अघटित सामर्थ्य की हम कल्पना कर सकते हैं।
गुरु-कृपा का सामर्थ्य भी ऐसा ही है।
क्योंकि तुच्छ माना गया जीव भी
उसके द्वारा परब्रह्म-पद प्राप्त कर सकता है।

— ५३ —

चित्र का सूर्य, प्रकाश नहीं दे सकता।
वैराग्य-शून्य संन्यास, या अनुभव-शून्य ब्रह्मज्ञान, दोनों की यही गत है।
अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन में जिन्होंने सांगोपांग साधना की है
उस भाग्यशाली पुरुष को ही
प्रखर वैराग्ययुक्त संन्यास और अनुभवात्मक ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है।

— ५४ —

जिस शिष्य को अनुभवी सद्गुरु प्राप्त हुआ,
उसके लिए वह सब संतों में श्रेष्ठ है।
क्योंकि दूसरे संत, मेघ-वृष्टि की तरह, सर्व-सामान्य उपदेश
देनेवाले होते हैं
लेकिन गुरु, शिष्य की भूमिका ध्यान में रखते हुए,
आदि से अंत तक, उसका मार्गदर्शन करते रहता है
मानो वह उसकी कामधेनु ही होता है।

प्राथमिक अवस्था में वह उसे सुख, प्रेम और धीरज देता है।
आगे, उसका वैराग्य जाग्रत करके, उसकी वासना की ग्रन्थियाँ खोलता है;
फिर उसकी आँखों में ज्ञानांजन लगाकर,
उसे आत्मा का दर्शन कराता है,
और अंत में, उसका बोध स्थिर करके
उसके द्वारा धर्म-संस्थापन का कार्य कराता है।

ऐसे समर्थ गुरुरूप शिवमूर्ति ने
कायारूप काशी-क्षेत्र में,
ज्ञानदेव के कानों में विश्वोद्धार का तारक मंत्र कहा है।
और देखते-देखते ज्ञानदेव की उस विचार में समाधि लग गयी।

— ५५ —

सद्वृत्ति, शिष्य की योग्यता ।
वृत्ति-रहितता, गुरु का लक्षण ।
ऐसे निवृत्तिरूप गुरु के चरणों में,
शिष्य के सारे तीरथ, उसकी सारी साधना, समायी हुई है ।
ज्ञानदेव का संकल्प है
कि उसी एक तीरथ में डुबकी लगायी जाय,
और दूसरे किसी भी साधन के जंजाल में चित्त को भटकने न दिया जाय ।

उसके इस संकल्प के कारण
उसकी सारी वृत्तियों का परिमार्जन हुआ ।
वह निवृत्तिस्वरूप बन गया ।
मानो प्रलयकाल का सर्वत्र फैला हुआ एक ही समुद्र !
लहरें सारी लीन हो चुकीं !!
उसी तरह उसका देह भी निवृत्ति में घुल-मिल गया ।
प्रभु ने क्या लीला की !
मिथ्या संसार को पार करने के लिए—
साधना का बड़ा जहाज सजाया था,
वह उस मृगजाल में ही खो गया ।
अर्थात्, संसार का मिथ्यात्व समझ में आने पर,
साधना भी मिथ्या सिद्ध हुई ।
उसकी आवश्यकता समाप्त हुई ।

— ५६ —

साधक, भूतदया के कारण, कर्मयोग में प्रवृत्त होता है।
उसकी सारी प्रवृत्ति, भूतदया की प्रेरणा से चलती रहती है।
जैसे-जैसे उसकी भूतदया व्यापक और गहरी होती जाती है,
वैसे-वैसे दूसरे जीवों का और उसका अंतर टूटता जाता है।
अंत में, सारे जीव और मैं दोनों एक ही है,
सबका सुख ही मेरा सुख,
ऐसी अनुभूति होकर वह मानो भूतमात्र का प्राण ही बन जाता है।
ऐसी अनुभूति के बाद, सहज ही स्थूल क्रिया लुप्त होती है।
और कुछ न करते हुए भी सब कुछ कराने की शक्ति हाथ आती है।
इसे ही अकर्म में कर्म कहते हैं।

यह बीजरूप सिद्धि निवृत्तिनाथ को सध चुकी है,
इसलिए सोकर ही उनके सारे काम होते है।
दूसरे जीवों से भिन्नत्व से जो बाकी ही नहीं रहा,
वह भूतदया की हरकतें भी क्या करेगा ?
भूतदया-रूप ही वह हो गया।
फिर पृथ्वी बिछावन, आकाश ओढ़न,
और भूतमात्र सुखसाम्य की कल्पनारूप निद्रा,
यही उसका कर्मयोग हो गया।
भूतमात्र के निज स्वरूप में वह सो गया।
इसलिए, विषमता की सारी कलाएँ सहज ही लुप्त हुईं।
गुरु-शिष्य-भेद भी अस्त हुआ।

अर्थात् ज्ञान का लेन-देन भी रुक गया।
केवल आनन्द ही शेष रहा।
अब, हमेशा की भाँति,

भूतदया को क्रिया का आलंबन नहीं चाहिए।
ज्ञान को शब्द का आलंबन नहीं चाहिए—
नीचे समई,
और ऊपर चिराग,
इसकी आवश्यकता ही नहीं,
नीचे दीया, और ऊपर भी दीया,
आलंबन रहित दीया ही दीया,
कल्पना की जा सके तो कर लीजियेगा।



: २ :

भक्ति

८. सर्व सुखागार

— ५७ —

विठ्ठल के दर्शन से कितना सुख हो रहा है आँखों को !
लेकिन उसमें अचरज कुछ भी नहीं।
माधव है ही वैसा सुन्दर,
सब सुख का आगर ही जो है।
अचरज यही कि सबको उसके दर्शन से ऐसा आनन्द नहीं होता।
लेकिन इसमें भी अचरज नहीं,
क्योंकि इस आनंद का अधिष्ठान केवल वह बाह्य मूर्ति नहीं है,
आंतरिक प्रेम है।
ईश्वरविषयक ऐसा प्रेम—
अनेक जन्मों की पुण्याई से ही मिला करता है।

— ५८ —

ज्ञानदेव ईश्वर की मूर्ति का ध्यान कर रहा है।
मूर्ति का सौंदर्य तो मोहक ही है।
लेकिन वह ईश्वर के अनंत गुणों का प्रतिबिंब मात्र है,
छाया स्वरूप है।
इसलिए, संकेत चीन्हकर, सौंदर्य द्वारा,
मंगल गुणों के चिंतन में चित्त को लगाना होता है।
वैसा करने से, ईश्वर के लिए प्रेम की अनुभूति होकर,
वह अपने गुणों सहित हृदय में स्थिर हो जाता है।

— ५९ —

ऐ जीव भ्रमर,
रस-सेवन के लिए तू दुनिया भर भ्रमण करता रहता है।
रस-वृत्ति कोई अवगुण नहीं कहा जा सकता।
लेकिन, बहिर्मुखता और चंचलता, तेरे बड़े भारी अवगुण कहे जाने चाहिए।

तू अगर अंतर्मुख वृत्ति से देखेगा,
तो तुझे उस हरि-चरण-कमल के दर्शन होंगे
जो सुन्दरता की मानो खान है,
और जिसकी सुगन्ध के अंशमात्र से दुनिया ओतप्रोत है।
और फिर, यह कहने की जरूरत नहीं रहेगी
कि निश्चल होकर वहाँ का रसपान करते रह।

— ६० —

पांडुरंग की मूर्ति का, ईश्वर के साकार स्वरूप का,
सौंदर्य वर्णन करने के लिए शब्द ही नहीं हैं।
निर्गुण का वर्णन अरूप शब्द से भी तो कर सकते है।

यह तो सरूप होते हुए, किसी भी रूप से उसका साम्य नहीं।
निर्गुण समझने के लिए कठिन माना जाता है।
लेकिन वह उतना कठिन नहीं।

क्योंकि वह सरासर निर्गुण ही है।
किन्तु यह जो सगुण का जामा ओढे हुए है,
नाना नाटकों का रचयिता है,
इसका भेद सहसा खुलता ही नहीं।
उस संबंध में की गयी जिज्ञासा का स्पष्ट जवाब नहीं मिलता।
केवल इशारे से जो कुछ सूचित होगा वही सही।
लेकिन उसका आकर्षण तो टलता नहीं है।
निर्गुण से बोलने का सवाल ही नहीं।
इससे बोलना तो है, लेकिन बिना शब्द के,

चरण तो छूना है—
लेकिन चरण दिखाई नहीं देंगे।
दर्शन तो करने है, लेकिन समझ में नहीं आयेगा कि आगे से या पीछे से।

ऐसे इस गहन स्वरूप का पता लगाने का ज्ञानदेव ने प्रयत्न किया,
तो अनुभव से मालूम हुआ,
कि वह रूप अपने हृदय में ही स्वयंभू उपस्थित है;
और बाहर जो दीखता है
वह भी उसके ही पड़ताल का है।
फिर, इस नयी दृष्टि से देखने पर
सारा अंतरंग ही पलट गया।

— ६१ —

श्रीकृष्ण, अपने सहज ठाट-बाट से,
कल्पवृक्ष के नीचे वंसी वजाता खड़ा है।
जिसे जैसी ध्वनि सुनने की इच्छा हो, वह वैसी सुन ले।
जिसे जैसा रूप देखने की रुचि हो, वह वैसा देख ले।
जगत त्रिविध है, तो वह भी वैसा ही त्रिभंगी है।
देहधारी भक्तों के लिए, वह देहधारी वना है।
गोविंद, गोपाल आदि दुनिया के हजारों नाम उसने धारण किये हैं।
वाह्य और आंतरिक, सारे सुख-दुख पेट में पचानेवाला वह परमानंद है।
सव गुणों से परिपूर्ण, जीवन-स्वरूप आनन्द-मूर्ति
वह चिंतन के परे है।
जड़, चेतन और शून्य
तीनों को व्यापकर बचा हुआ
वह भक्तों का लाड़ला विट्ठल है।

— ६२ —

गोवर्धन पर्वत उठाने के लिए, सभी ग्वालों ने सामुदायिक उठवाई की
किसीने अपने हाथों का आधार दिया,
किसीने माथे का टेका दिया,
किसीने लाठी का सहारा दिया।
किसीका हाथ टूटा,
किसीकी कलाइयों में मोच आयी,
आखिर वह पर्वत खड़ा हुआ।

ग्वालों ने आनन्द के आवेश में कहा–
"धन्य है हम कि इस पर्वत को उठाया।
सामुदायिक प्रयत्न से क्या नहीं होगा ?"
सयानों ने कहा—
"अरे यह सारी महिमा कृष्ण की है।
वह हमारे बीच होते हुए तुम लोगों को दिखाई कैसे नहीं देता ?
हम सभी अभी मर जो रहे थे।
उसकी कृपा से जिन्दा रहे, यही भाग्य समझो।"

९. तुझे सगुण कहें या निर्गुण ?

— ६२ —

श्रुति का कहना है–
"ईश्वर एक ही है,
लेकिन उपासक उसकी बहुविध उपासना करते हैं।"
उपासकों की भक्ति-भावना के कारण
उनकी वह उपासना होती है।
लेकिन वही, अज्ञान-जनता के भ्रम का कारण बनी है।
ईश्वर अव्यक्त, अरूप,
वहाँ चित्रकला का क्या प्रवेश ?

फिर भी काल्पनिक संकेतों की रचना कर,
चित्रकार, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार,
उसके चित्र, प्रतिमा आदि बनाते हैं।
और भक्त जन, ऐसी इस एकदेशीय मूरत में
उस सर्वव्यापक निर्लिप्त परमेश्वर का भावन करने लगते है।
कोई ध्यान-योगी हैं,
जो, ईश्वर की ज्योतिर्मय ॐकार-स्वरूप में उपासना करते हैं।
और उपपत्ति बताते हैं :
कि ईश्वर को विश्व-रचना का शौक हुआ।
तब उसमें से "ॐ" नाद निकला।
फिर आगे उसीकी तीन कलाओं के रूप में तीन फाँकें हुईं।
और उसमें से तीन देवता और तीन जगत् निर्माण हुए।

यह सारी उपपत्ति, ध्यान के आलंबन के रूप में गृहीत की जाय,
तो भी ईश्वर-स्वरूप के वह बहुत ही इधर की है।
वास्तव में तो, वह ईश्वर को लागू ही नहीं हो सकती!
जो स्वयं-तृप्त, नित्य-परिपूर्ण आनन्द-स्वरूप है,
उसमें छंद कहाँ का? नाद कैसा? और क्या कैसे?

कोई धर्मपरायण हैं, जो ईश्वर की अवतार-स्वरूप में भक्ति करते हैं।
कहते हैं, ईश्वर समय-समय पर अवतार लेता है।
साधु-परित्राण करता है,
धर्म को सँवारता है।
लेकिन वह समष्टि-स्वरूपः

उसे न आदि है न अंत।
न जनम न मृत्यु।
केवल निर्विकार !
इस अवतार-कार्य की उसमें संभावना भी कैसे हो सकती है ?
यह सब होता रहता है, यह बात सही है।
लेकिन यह माया का लाघव है।
इसका उसे क्या स्पर्श!

ईश्वर की निर्विकारता को लक्ष्य कर के,
कोई उसे शालिग्राम आदि पाषाण प्रतीकों में पूजते हैं।
कहते हैं मनुष्य की तुलना में पाषाण कैसा निर्विकार है।
उसे न राग-द्वेष, न लोभ-मत्सर,
लेकिन कहाँ पाषाण, और कहाँ परमेश्वर !!
पृथिव्यादि पंच-भूत, प्रलयांत में जब शून्य में विलीन हो जाते हैं
उस समय भी जो उस शून्य से भिन्न बचा ही रहता है ;
उस परिशुद्ध निर्विकार-स्वरूप की किससे उपमा दी जाय ?

वह तो अंतर्बाह्य ओतप्रोत है।
इंद्रिय द्वारा उसकी उपासना भले ही की जाय,
लेकिन इंद्रिय द्वारा उसका दर्शन तो हो नहीं सकता
वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ से भिन्न, क्षराक्षरातीत,
सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-लय का जहाँ किंचित् भी संपर्क नहीं,
ऐसा पुरुषोत्तम, सबके हृदय में विराजमान है।
वहीं उसका दर्शन लेना चाहिए।

— ६४ —

ईश्वर का स्वरूप क्या है ?
अथवा अपनी माया के साथ उसका संबंध कैसा है,
इन प्रश्नों का निर्णय करना,
अथवा उसे शब्दों में रखना अशक्य है।
ईश्वर को नापना
याने आकाश पर गिलाफ चढ़ाने जैसा ही है।
वह इतना व्यापक है कि किसी भी नाप में समा नहीं सकता।
लेकिन इसलिए अगर उसे व्यापक कहा जाय तो भी ठीक नहीं,

क्योंकि व्याप्य भी वही है ।
विरोधी विशेषणों में से कोई भी एक विशेषण,
उसके वर्णन के लिए अपूर्ण पड़ता है ।
इसलिए, अगर दोनों का एकत्र प्रयोग किया जाय,
तो अर्थनिष्पत्ति ही नहीं होती ।
ईश्वर की व्याख्या करने के लिए
बुद्धि को जितना-जितना दौड़ायें
उतना-उतना वह अधिक ही आगे दौड़ता है ।
छाया के पीछे दौड़ने जैसा ही प्रकार होता है, वह ।
अच्छा, तो क्या ईश्वर की माया को भी उससे अलग किया जा सकता है ?
द्रव्य और द्रव्य के गुण,
वस्तु और वस्तु का आकार,
कारण और कारण का कार्य,
एक-दूसरे से भिन्न हैं, या अभिन्न हैं, या और किसी प्रकार के है-
इस संबंध में दर्शनकारों के झगड़े, कभी भी मिटे नहीं !
वास्तव में, यह झगड़े दर्शनकारों के हैं ही नहीं ।
ईश्वर और उसकी माया के बीच के हैं ।
उन दोनों को एकत्र रखा जाय तो भी वे लड़ते हैं ।
और अलग करें तो लड़ते ही हैं ।
झगड़ालू माता-पिता को हम बालक कैसे समझायें ?
इसलिए इस झंझट में पड़ने के बजाय, माया का नाम ही छोड़कर,
ईश्वर-चरणों में लीन होना ज्ञानदेव को मंजूर है ।

— ६५ —

ईश्वर सबका उद्गम-स्थान है।
सर्वसाक्षी, सबका भरण कर्ता, सर्वमय है।
आनन्द और प्रबोध,
ये दोनों उसकी दो प्रमुख पहिचानें हैं।
लेकिन हम भक्तों को एक और पहिचान मिली है—
कि भगवान् ईंट पर खड़ा है,
जिसका ध्यान करके
हम अपने हृदयरूपी ईंट पर
उसे नित्य खड़ा रखते हैं। *

* पंढरपुर के ऐतिहासिक मंदिर में, भगवान् , पांडुरंग के रूप में ईंट पर खड़े दिखाये गये हैं। प्रस्तावना में इसका स्पष्टीकरण किया ही गया है। थोड़ा विश्लेषण आगे भजन ७६ में भी आया है।

— ६६ —

सत्यम् , ज्ञानम् , अनंतम् ,—
इस तरह जिस निर्गुण निराकार का वर्णन किया जाता है,
उसे ही हम सगुण साकार रूप में, आँखें भरकर,
प्रत्यक्ष देखते रहते है।
लेकिन, उसमें देखनेवाला कर्ता नहीं है,
और देखना क्रिया नहीं है।
ऐसे उस ईश्वर को हम बाहर ईंट पर खड़ा करते हैं,
और हृदय में अंतर्ज्योति रूप से अनुभव करते रहते हैं।

— ६७ —

विश्वरूप से सजा हुआ,
विविध देह धारण करनेवाला
और, सब कुछ जाननेवाला
एक सत्य-स्वरूप आत्माराम ही है।
देह में रहते हुए, देह को अलग रखकर,
विवेकपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए।
फिर मैं, तू यह विभाग सहज ही मिथ्या पड़ जाता है।
वास्तव में, सबके हृदय-कमलों में,
वह एक ही चित्-सूर्य,
अलिप्ततापूर्वक प्रकाशमान है।
ध्यानादि साधना के अनेक प्रयोग हम करते है।
परंतु हम उन सब प्रयोगों के आधारभूत,
उन सबके प्रकाशदाता,
उन सब प्रयोगों से भिन्न ही हैं।
मनुष्य की आँखों में हजारों भाव उठे हुए दिखाई देते है।
वे सब एक आत्मा से ही निकले हुए हैं।
इसलिए आँखों के रूप, अथवा अक्षि-पुरुष को
शास्त्रकारों ने एक चैतन्य चिह्न ही माना है।

— ६८ —

पदार्थ के वर्ग—भाव और अभाव।
भाव के वर्ग—सगुण और निर्गुण।
सगुण के वर्ग—व्यक्त और अव्यक्त।
व्यक्त के वर्ग—स्थूल और सूक्ष्म।

तर्कशास्त्र पूछता है :
ईश्वर को आप किस कोटि में डालियेगा ?

श्रुति कहती है–किसी भी कोटि में नहीं।
भक्त कहते हैं–दोनों कोटियों में।

ज्ञानदेव कहता है—
कोटि ही नहीं है।
और ईश्वर है,
इसलिए तर्क का काम ही नहीं।

— ६९ —

बीज पहले, या फल पहले ?
जगत् की रचना कैसे हुई ?
कार्य-कारण का संबंध किस प्रकार का ?
ऐसे प्रश्नों की चर्चा करने का बहुतों को शौक रहता है।
वास्तव में,
न तो कभी ये प्रश्न हल हो सकते हैं,
और न उनका आध्यात्मिक जीवन से कोई संबंध ही है।
आध्यात्मिक सिद्धांत तो प्रत्यक्ष अनुभव पर खड़े होते हैं।
आध्यात्मिक दृष्टि से मुख्य आवश्यकता है इस अनुभव की,
कि आत्मा आंतर्बाह्य सर्वत्र व्याप्त है।
उसमें सब सिद्धांतों का सहज ही समन्वय हो जाता है।

— ७० —

कर्म-योगी, कर्म के द्वारा ईश्वर की सेवा करने की धुन रखता है।
ज्ञानयोगी बुद्धि से ईश्वर का स्वरूप जानने की हिम्मत करता है।
भक्त वाणी से ईश्वर का गुणगान करने का शौक रखता है।
वस्तुतः न करने से उसकी सेवा होती है।
अनजान से उसका स्वरूप जाना जाता है।
और "मौन" से ही, उसकी योग्य स्तुति होती है।
ऐसा है उसका स्वयंभू स्वतःसिद्ध स्वरूप।
ऐसी स्थिति में, ज्ञानदेव के ध्यान में ही नहीं आता
कि इतनी विपरीत अभिलाषा साधक रखते क्यों हैं ?
और ईश्वर उन्हें रखने देता क्यों है ?

१०. भक्ति एकमेव साधन

— ७१ —

चित्त से अवांतर सारा ज्ञान निकाल बाहर कर। केवल एक ईश्वर
को ही पहचान।

गुरु से उसकी विद्या सीख ले,
मन से उसका मनन कर,
बुद्धि से उसका निश्चय कर।
हम कहा करते हैं कि
भक्ति, प्रेम और हैं, तथा ज्ञान और है,
दूसरे विषयों के बारे में यह सही भी हो,
तो भी ईश्वर के लिए लागू नहीं।
क्योंकि, ईश्वर को जाननेवाला
बिना उस पर प्रेम किये रह ही नहीं सकता।
इसलिए ज्ञानदेव, निश्चयपूर्वक कह रहा है,
कि एक ईश्वर को जान ले,
तो फिर सब कुछ उसमें आ गया।

— ७२ —

दीये, तारका, और चंद्र,
ये सब मिलकर भी दिवस नहीं बना सकते,
दिवस सूरज के उगाये ही प्रकट हो सकता है।
अन्य साधन और ईश्वर-भक्ति की यह तुलना है।

अन्य साधन प्रापंचिक बातों में जो कुछ प्रकाश डाल सकें वही सही;
लेकिन प्रपंच का ही छेदन करनेवाला प्रकाश उनसे नहीं मिल सकता।
भीतर ही भीतर भटकना हो—
तो रास्ते अनेक हैं।
बाहर निकलने के लिए
रास्ता एक ही है।
केवल श्रवण-व्याख्यानादि ज्ञान-मार्ग प्राणहीन साबित होता है।
केवल कर्म में प्रवृत्त करनेवाला कर्म-मार्ग दृष्टिहीन ठहरता है।
इसलिए, अगर आत्म-निग्रह का योग-मार्ग स्वीकारें,
तो ईश्वर-भक्ति के अभाव में
वह भी सिद्धि की ओर ले जानेवाला अपाय ही हो जाता है।
सर्व साधनों की कसौटी यही है कि
'मैं उत्तम और दूसरे हीन' इस तरह ऊँच-नीच भाव
अथवा 'अमुक मेरे और बाकी के पराये' यह भेदभाव दूर हो।
सर्वत्र ईश्वरदर्शी मात्र भक्ति ही इस कसौटी पर उतर सकती है।
स्थिति ऐसी है कि
अन्य साधनों से इन अनिष्ट भावों में वृद्धि नहीं हुई तो मेहरबानी।
इसलिए आओ,
सारे भेदाभेद ही त्यागकर—
विश्वात्मैक्यरूप भक्ति का आश्रय करें।
निवृत्ति मुनि के प्रसाद से
ज्ञानदेव को ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई है।

— ७३ —

अकार, उकार, मकार,
इस तरह का विश्लेषणात्मक तात्त्विक विचार कितना ही किया,
तो भी उससे ईश्वर कैसे जानियेगा ?
क्योंकि वह तो संश्लेषण-स्वरूप है ।
तीन मात्राओं का ॐकार बना,
लेकिन कहते हैं कि वह तीन मात्राओं की जोड़ के भी उस पार,
आधी मात्रा पर है ।
और यह आधी मात्रा–
गणित में आधी मानी गयी हो तो भी,
वस्तुस्थिति में अपार है ।

टुकडों की जोड़ से पूर्ण का निर्माण नहीं हो सकता ।
पहले टुकडे करें, और फिर जोड़ करें
यह तार्किक प्रक्रिया पूर्ण के आकलन के लिए निरुपयोगी है ।
ईश्वर तो पूर्ण के भी उस पार केवल अपरंपार है ।
बिना प्रेम के उसका आकलन नहीं हो सकता ।
ईश्वर है तो ज्ञानमय, लेकिन मिला करता है वह प्रेम से ।
लेकिन
उसकी यह खूबी अनुभवी पुरुष के ध्यान में आयी है ।

— ७४ —

भजन, अर्थात् सर्व देहों में भजन,
अर्थात् ईश्वर-भावना से भूत-सेवा।
कलियुग में दूसरा ऐसा साधन नहीं;
भिन्न-भिन्न गिरोहों के झगड़े या कलह,
यह है कलियुग का स्वरूप।
कलि शब्द का अर्थ ही वह है।
अतः सर्वोदय के लिए प्रयत्नशील भजन ही उस पर अक्सीर
नुस्खा है।
एक-दूसरे के वास्तविक हित एक-दूसरे से विरुद्ध रहते ही नहीं।
यह निज-ज्ञान उसकी नींव है।
उससे मुक्ति का मार्ग सहज ही मुक्त होनेवाला है।
फिर संकुचित अहंता लुप्त होगी,
परस्पर सद्भाव जाग्रत होगा,
सर्वत्र सुख उमड़ पड़ेगा।
ज्ञानदेव को निवृत्ति-चरण-प्रसाद से प्राप्त यह संकेत गीत है।
उसीमें उसे सदा आनन्द की अनुभूति होती रहती है।
किसे नहीं होगी?

— ७५ —

वास्तव में निर्गुण स्वरूप के प्रकाशन के लिए
यह सगुण विश्वरूप धारण किया है,
लेकिन परिणाम विपरीत हुआ ।
लोकदृष्टि में, सगुण ने निर्गुण को ढँक ही दिया ।
इसके विपरीत, विचारकों की विचार-दृष्टि में, द्रष्टा की, निर्गुण
की, दीप्ति इतनी फैलती है,
कि दृश्य का—सगुण का—लोप होता है ।
सर्व-सामान्य लोक-दृष्टि,
और विचारकों की विचार-दृष्टि,
इन दोनों से भिन्न है भक्ति की दृष्टि ।
उससे व्युत्थान और समाधि दोनों की कमी दूर करनेवाली
समरस अवस्था प्राप्त होती है ।

इस समरस में दृश्य का लोप न होकर,
द्रष्टा का तेज भासमान होता है।
उस अवस्था में, ईश्वर चैतन्य-स्वरूप में, सगुण में, विराजमान
रहता है।
फिर भी चैतन्य के उस पार के तत्स्वरूप निर्गुण का भान होता
ही रहता है।
शब्द का उच्चार करें तो तदाकारता लोप होती है।
और तदाकार बनें तो शब्द लोप होता है।
यह है हमेशा की दिक्कत।
लेकिन समरस अवस्था में इधर ॐकार का उच्चारण भी कर
सकते हैं.
और उधर तदाकार भी हो सकते हैं।
इस अवस्था का थोड़े में वर्णन कर सकते हैं :
प्रेम-कलिका में उँड़ेला हुआ प्रखर तेज।
१. सगुण से निर्गुण प्रकट हो।
२. दृश्य लुप्त न होते हुए द्रष्टा का तेज फैले।
३. चैतन्य की क्रीड़ा में, कर्मयोग में, व्यवहार करते हुए उस पार की
शांति का अनुभव करें।
४. शब्द बोलते हुए निःशब्द में लीन रहें।
५. प्रेम की कोमलता और ज्ञान की प्रखरता का योग करें।
इस प्रकार इस अवस्था का विवरण हो सकता है।
ज्ञानदेव के गुरु ज्ञानदेव से कहते हैं :
"इस अवस्था में तू विराजमान रह।"

— ७६ —

सर्वत्र सुख-साम्य की योजना किये बिना हरि की समाधि नहीं
मिलेगी।

भेदभाव का निर्दलन करके,
सुख-साम्य सम्पादन करने में ही बुद्धि का वैभव है।
लेकिन दुर्दैव है कि अवांतर ऋद्धि-सिद्धि और निधि प्राप्त करने में
मनुष्य बुद्धि का वैभव मानता है।
लेकिन जब तक उस सुख-साम्यरूप परमानंद की ओर मन का
झुकाव नहीं,
तब तक, यह सब उपाधियाँ ही हैं।
ज्ञानदेव को तो उसी एक ध्येय का,
उसी हरिमय समाधि का चिंतन करने में,
उसके लिए तड़पते रहने में,
रम्य समाधान मिला है।

— ७७ —

सेवक ने कष्टों को झेलकर सेवा की,
फलतः स्वामी के हृदय का वह स्वामी हो गया।
अर्थात् उसका पहले का सेवकत्व गया,
और उसे स्वामी का पद मिला।
फिर भी वह स्वामी को नहीं भूला।
उसने अपना सेवकत्व ही कायम रखा।
स्वामी को चाहिए कि उदारतापूर्वक सेवक को स्वामी का पद
प्रदान करे।
सेवक को चाहिए कि नम्रतापूर्वक सेवक का पद न छोड़े।
इसीमें माधुरी भरी हुई है।

११. रात-दिन चिंतित रहता हूँ

— ७८ —

कृष्ण-अवतार का वह मधुर चित्र—
अब भी भक्तों के चित्त में सदा रमता रहता है।
ऊपर मेघ गरज रहा है,
नीचे मेघ-श्याम हरि बंसी बजा रहा है;
ब्रह्म-विद्या के शिखर पर पहुँचकर
सामान्य ग्वाले की तरह गायें सँभाल रहा है।
सनकादिकों के लिए भी वह दृश्य कल्पना के बाहर का है।
ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ और कर्म झड़ गये।
यह उनका अनुभव।
इसने तो ब्रह्म में कर्म मिला दिया।
निवृत्ति-दास पर इसीकी कृपा है,
और, भक्तों के लिए उसका अभय वचन है,
कि तुम लोग निरंतर कर्म करते हुए भी
मेरी भक्ति से मोक्ष प्राप्त कर सकते हो,
तुम्हें डरने का कोई कारण नहीं है।

— ७२ —

कृष्ण-अवतार में जिसके सान्निध्य के लिए एक आकाश को दूसरे
आकाश से ईर्ष्या होती थी।
और जिसके स्पर्श के लिए जमुना का जल ऊपर चढ़ता था,
सारे जगत् की आँखें अपनी ओर आकर्षित करनेवाला
और, मन की गति को कुंठित कर देनेवाला वह प्रभु
आज हमारे लिए, कमर पर हाथ धरे, भीमा नदी के किनारे खड़ा है।

प्रपंचरूपी नदी भयानक दीखती है,
लेकिन विशेष गहरी नहीं है।
संकेत द्वारा वह यही बता रहा है,
कि उसमें कमर बराबर ही पानी है।
उसकी वह समचरण मूर्ति सबको समत्वाचरण का बोध दे रही है।
वास्तव में, वह मूर्ति है हमारी हृदयस्थ
लेकिन बाहर का स्वांग बनाकर खड़ी है।

हृदय-परिवर्तन कब होगा ?
वह मूर्ति हृदय में कब प्रकटेगी ?
और उसका शब्द भीतर से कब स्पष्ट सुनाई देगा ?
ज्ञानदेव को यही एक छटपटाहट लग रही है।
अभी प्राण बाकी है।
इसलिए, इन छटपटाहट के कारण बाहर निकलना चाहता है।
निकल ही जाने पर
न जाने क्या होगा ?

— ८० —

ज्ञानदेव भगवान् से कहता है :

"भगवन् ! यह सही है कि मैं एक सामान्य पतित जीव हूँ ।

परन्तु तेरा मुद्रांकित भक्त हूँ ।

झंडे का चीथड़ा, उसकी हरित क्या ?

लेकिन उसकी प्रतिष्ठा के लिए राजा को परिश्रम उठाना पड़ता है ।

राजा के हस्ताक्षरवाले कागज के टुकड़े की-क्या बिसात ?

लेकिन राजा की खुद की कीमत के समान ही उसकी कीमत !

वही स्थिति मेरी है ।

मैं तेरी पताका जो हूँ, तेरे यश को फहरानेवाली,

तेरा आज्ञापत्र हूँ, तेरी आज्ञा को प्रकट करनेवाला ।

तुम वाध्य हो कि उसकी प्रतिष्ठा सँभालो ।

— ८१ —

भ्रमर फूल की ओर आकर्षित होता है,

अथवा, प्यासे को पानी का ही ध्यान लगता है,

ठीक उसी प्रकार, ईश्वर के लिए आकर्षण प्रतीत होना चाहिए ।

इसीकी मुख्य अड़चन है ।

एक बार आकर्षण होने पर छूटनेवाला ही नहीं ।

फिर उसी एक स्वाद में, अन्य सारे स्वाद विलीन हो जायँगे ।

किंबहुना उस एक स्वाद से सभी स्वाद स्वादु हो जायँगे !

— ८२ —

तीरथ, तप और त्याग करके भी तारण नहीं।
तारण है लीनता से !
जब विठोबा के पैर तले की मैं ईंट बनूँगा,
केवल शून्य बन जाऊँगा,
तब ही मानूँगा कि मेरी साधना सफल हुई।
अनेक पुण्यों के परिणामस्वरूप,
परमेश्वर के लिए भक्ति महसूस होने लगी है।
लेकिन भक्ति की भी परिणति,
संपूर्ण निरहंकृति में होनी चाहिए।

— ८३ —

ज्ञानी पुरुषों के आत्मसुख की केवल वार्ता हम कितने दिन करते रहें?
क्या हमें उस सुख की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होनी चाहिए?
लेकिन उसके लिए हमें अपने मन को बचाना और सँभालना
होगा—अनिष्ट संस्कारों से !
करना यह होगा
कि विशिष्ट भाव ही मन में स्थिर हो।
और यही सधता नहीं।
लेकिन ईश्वर के लिए भक्ति रही,
तो यह भी कठिन नहीं।
इसलिए ज्ञानदेव कहता है :
"हे देव, तू मेरे लिए पर्याप्त है।
ऐसा कर कि तेरे प्रेम-सुख में मेरे सारे सुख खप जायँ,
जिससे मेरा बाकी का काम सहज ही बन जायगा।"

निरन्तर

— ८४ —

फटा कंबल मैं जैसे-तैसे बरत रहा हूँ।
आशा रख छोड़ी है कि किसी दिन साबित कंबल भी मिलेगा!
जो है उसको बरते बिना छुटकारा नहीं।
लेकिन इधर नंगी पीठ में
जाड़ा तो लगता ही है।
अंटी में दाम नहीं है,
और प्राणशक्ति सूखती जा रही है।
इसलिए अपनी कमाई की आशा छोड़कर
मैं अब उसी से माँगता हूँ।
वही मुझे साबित कम्बल दे सकता है।

साधक को सिवा इसके गत्यंतर नहीं
कि स्वबुद्धि के अनुसार साधन का आचरण करें।
लेकिन आखिर, ईश्वर-शरणता के बिना
साधना की पूर्णता संभव नहीं।

— ८५ —

ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप;

हम, ताप-त्रय-मग्न।

ईश्वर शुद्ध सत्त्वगुणी:

हम त्रिगुणों का मिश्रण।

ईश्वर सर्व-गुण-मंडित:

हम सर्व-दोष-संपन्न!

ईश्वर अखंड

हम फटे-टूटे!

यह ऐसा भेद क्यों?

किसी तरह यह संदेह चित्त से निकलता नहीं!

एक बार किसी योगी को ध्यान करते देखा;

किसी भक्त को नाम जपते देखा:

और मेरा संदेह सहज ही पच गया!

समझ गया कि साधना और भक्ति का सुख अनुभव करने के लिए,

यह भेद है।

तब से, उसके चरणों में मेरी वृत्ति लीन हो गयी!!

— ८६ —

इसमें संदेह नहीं
कि तू मेरा स्वामी है
और मैं तेरा सेवक हूँ।
लेकिन सोचने पर यह भेद ठहरता नहीं।
इसलिए, आओ! अब इसे छोड़ दें,
और एक ही रूप हम दोनों धर लें।
अभेद का इतना अनुभव मुझे होने दो।
फिर मैं हमेशा के लिए तुम्हारा दास होकर रहूँगा।

— ८७ —

ईश्वर के भक्त की, बाजार में कीमत नहीं,
क्योंकि, भक्त के निकट, बाजार की ही कीमत नहीं।
उसे चाहिए केवल एक ईश्वर;
ईश्वर हो तो उसे और किसी चीज की जरूरत नहीं।
और न होने पर दूसरी कोई चीज काम की नहीं।
सारांश, दोनों ओर से,
दुनिया की मंडी में उसकी कीमत रही नहीं।

१२. परमविरहासक्तिरूपा

— ८८ —

साधक के जीवन में ऐसी एक अवस्था आती है
कि जब उसे ईश्वर का तीव्र वियोग सताने लगता है।
दुनिया की भाषा में उसका वर्णन करना असंभव होता है;
तथापि मानव के संतोष के लिए
कोई-न-कोई शब्द-प्रयोग करना ही होता है।
इसलिए विरहासक्ति की भाषा में वह अनुभव उपस्थित किया
जाता है।
उस अवस्था में, भक्त के लिए,
दुनिया की सारी शीतलता तापदायी हो जाती है!
माधुर्य कड़वा लगता है!!

ज्ञानदेव अपना अनुभव कहता है:
देह की तरफ देखें तो कभी कुछ भी नहीं दीखता।
कभी विपरीत ही दीखता है।
और कभी देह की जगह देव का ही रूप दीखने लगता है।
कभी शून्यता, कभी भ्रांति, कभी उत्कंठा!
ऐसी यह विचित्र दशा है!

— ८९ —

भगवन्, तेरा वियोग अब मेरे लिए असह्य हो गया है।
कारण, जब से तेरी अधूरी आशा बँधी है।
वृत्ति की खींचतान इतनी हो रही है।
कि उसकी सीमा ही नहीं रही।

कभी वृत्तियाँ इतनी जड़ बन जाती हैं
कि दिन और रात मिलाकर
एक लंबी रात ही बन जाती है।
प्रतिभा ऊपर उठती ही नहीं।
कभी वृत्ति इतनी चंचल बन जाती है
कि दिन और रात मिलकर,
एक खासा लंबा दिन ही बन जाता है।
कल्पना की उड़ान को
शांति मिलती ही नहीं।

तेरा प्रत्यक्ष दर्शन होकर,
तेरी स्फूर्ति का और गांभीर्य का, मुझे साक्षात्कार होगा,
तब ही मेरी कुशल है।

— १० —

प्रभु-मिलन की उत्कंठा से
कभी-कभी तो मैं इन्सानों के बीच से उठ जाता हूँ।
और पंछियों में जा बैठता हूँ।
उनसे कहता हूँ :
तुम धरती छोड़ आसमान में उड़नेवाले हो,
तुम्हें प्रभु का दर्शन जरूर हुआ होगा।
बतलाओ, हमारे घर पंढरी के पाहुने कब आनेवाले हैं ?
तुम्हें मुँहमाँगा इनाम दूँगा।
वे कहते हैं—
हमें तेरा कुछ नहीं चाहिए।
पंढरी के राणा तुझे अवश्य मिलेंगे।
कब मिलेंगे—वह, तुझे अपने हृदय में ही मालूम होगा !

जनाबाई

— ९१ —

भगवान् के दर्शन,
बिजली की तरह एक क्षण में होते हैं।
और उसी तरह, उन दर्शनों का लोप भी होता है।
फिर दीर्घकाल पर्यन्त,
दूसरी बार नहीं होते ।
लेकिन
उन दर्शनों का स्मरण, और उसकी तड़पन
लगी रहती है ।
हर किसीसे पूछता रहता हूँ कि उससे भेट कब होगी ?
लेकिन बताता कौन ?
आखिर अत्यधिक यन्त्रणा होने पर
फिर एक बार भेट होती है,
तो मन का अस्त हो जाता है ।
वाणी ठिठक जाती है ।
और देह-भावनासहित,
चैतन्य मानो खो जाता है ।
अर्थात् , अनुभव के लिए भी अवकाश नहीं रह जाता ।
फिर थोड़ी देर बाद, वही पूर्वदशा आती है ।

— ९२ —

ग्वालिन, माथे पर गोरस का घड़ा लेकर हाट के लिए निकली।
"गोरस लीजो जी गोरस" के बदले, "गोविंद लीजोजी गोविन्द"
पुकारने लगी।

स्त्रियाँ उससे पूछती हैं :
गोरस बेचती हो या गोविंद ?
वह कहती है
मेरी भाषा में गोविंद और गोरस एक ही है।

ज्ञानदेव कहता है :
ईश्वर की जब धुन सवार होती है,
तब सारे पदार्थों को
वह अपना ही रूप देता रहता है।
फिर न मैं हूँ, और न मेरा व्यवहार ही।

— ९३ —

"मैंने तो, उस गोपाल का वरण किया है।"

"उसका वरण करके क्या करोगी—
उसके न जाति, न कुल।"

"मैंने उसे मन से वरण किया,
उसी क्षण मेरा जाति-कुल भी जाता रहा।
अब आपकी सीख मेरे किस काम की?"

"हाँ, लेकिन लोग जाति से निकाल देंगे।
और गृहस्थी का सुख खो बैठेगी।"

"लेकिन सुख की चाह हो तब न?
चाह तो है भक्ति-प्रेम की!"
वह तो है मधुर ही मधुर
उसे पूरे शरीर पर धारण किये हूँ।
अब वह प्रीति, किसी भी भय से, कैसे दूर हो?

१३. सर्व सुकृत का फल मैं प्राप्त करूँगा

— ९५ —

दरसन देना प्राण पियारे,
मुझे तो केवल गोविंद की लगन लगी है।
मेरा चित्त और चेतन,
दोनों ही मानो वह चुरा ले गया है।
अब जगह ही नहीं कि मै और कोई चिंतन कर सकूँ।
लेकिन अब तक मुझे उसका दर्शन नहीं।
मै उससे कहता हूँ
मेरी मनौती पूरी कर।
मुझे दर्शन दे! तो फिर, मनोभावपूर्वक,
मैं तेरी सेवा करता रहूँगा।
बिना दरसन
सेवा कैसे संभव है?
दरसन बिना ही मैं सेवा करने जाऊँ
तो वह असेवा नहीं होगी?

निरुत्तर

— ९५ —

ऐ मेरी माँ ! मेरे हिरदे में आकर रहो ।
मैं सुनता हूँ कि प्रेमरूप वैकुंठ का निवास तुम्हें प्रिय है ।
और, मेरे हृदय में सिवा तेरे प्रेम के कुछ भी नहीं है ।
इसलिए, वहाँ तू अवश्य आकर रह ।
तू इस विश्व की जननी है,
तू स्वयं ही विश्वरूपिणी है ।
विश्व का भरण करनेवाली तू ही है ।
कमलवत् निर्लिप्त नेत्रों से
इस विश्व की लीला देखनेवाली
तुम साक्षीरूपिणी हो ।
निर्लिप्तता की तो तू खान ही है,
मेरे हिरदे में रहने से तुम्हें लेप लगेगा ही नहीं ।
लेकिन मुझे तुम्हारा परस होगा ।
लेकिन तेरे स्पर्श के कारण,
तेरा ध्यान लग जाने से
मैं जरूर तुझ जैसा हो जाऊँगा ।

— ०६ —

अन्य सारे आधार छोड़ देने के कारण
ईश्वर का ध्यान लगने में
अब कोई भी कठिनाई बाकी नहीं रही।
आज का दिन बड़े सद्भाग्य का है।
नामस्मरण के साथ आज उसका अर्थ भी प्रकट हुआ है।
मुख से नामस्मरण करने का अर्थ है,
उसके साथ-साथ
अपना शारीरिक जीवन और मानसिक चिंतन-
ईश्वर-चरणों में समर्पण करना।
मन, वाणी तथा शरीर
तीनों अंग ईश्वरीय प्रेम से परिपूर्ण करना है।
आज मेरी ऐसी भावना हुई है।
इसलिए मैं उससे दृढ़निश्चय से कह रहा हूं,
कि मुझे अब तेरा ही ध्यान लगे।

— ९७ —

हम भक्तों की दृष्टि से
निर्गुण, सगुण और साकार,
तीनों एक श्री मूर्ति में समाये हुए हैं।
सुषुप्ति में निर्गुण का अनुभव करें
स्वप्न में सगुण का भावन करें।
जाग्रति में साकार देखें।
लेकिन उस श्री मूर्ति के दर्शनों के आगे
हमें इन तीनों का स्मरण नहीं होता।
हमारी हार्दिक रुचि यही है
कि संसार भर में उसकी यशोध्वजा की विजय-यात्रा निकले,
और भक्तों के मेलों में उसे प्रस्थापित करें।

— ९८ —

ईश्वर के बारे में,
मेरा मन जरा भी डाँवाडोल नहीं रह गया है।
कारण, अपने देह में मैं उसे प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ।
अब चाह इतनी ही है
कि भविष्य में सबकी सारी इंद्रियों से
मैं उसे अनुभव करूँ।

— ९९ —

मेरी प्रतिज्ञा है,
कि सृष्टि और संसार, सब सुखमय करूँगा।
इसके लिए संतों के समूह में जाऊँगा,
हृदय-पुंडरीक की थाह लूँगा;
नाना साधन करूँगा
और सारे साधनों के फलस्वरूप—
ईश्वर-दर्शन प्राप्त करूँगा।
फिर उससे भेंट होने पर
हर पदार्थ पर उसीका रंग चढ़ेगा,
और मेरा लोप होगा,
मेरी प्रतिज्ञा पूरी होगी।

मनाहनर

— १०० —

हे परमेश्वर !
तू निर्गुण, निराकार, केवल अनिर्वाच्य है ।
तेरी महिमा का आकलन हमारा हृदय कैसे करे ?
तुझे हमारी आँखें कैसे देखें ?
तेरा वर्णन हम अपनी टूटी-फूटी वाणी से कैसे करें ?
जहाँ वेद और पुराणों को भी नेति-नेति कहना पड़ा —
वहाँ हमारी क्या बिसात ?
लेकिन इसीलिए तो तू भक्तों की भावना के वश होकर
हमारे लिए, उदारतापूर्वक,
सगुण, साकार, सुलभ बन गया है ।
अब हम अपने हृदय पर
तेरे ध्यान का ओढ़ना ओढ़ सकते हैं ।
आँखें भरकर तुझे निहार सकते है ।
वाणी से तेरा नाम गा सकते हैं ।
निर्गुण तो तू है ही,
लेकिन हमारी प्रार्थना है
कि जब तक हमें यह आँखें और यह वाणी प्राप्त है,
तब तक तेरा यही सगुण सुंदर रूप,
और सर्वोत्तम मधुर नाम,
हमें निरंतर प्राप्त होता रहे ।

: २ :

दर्शन

१४. हरि-दर्शन

— १०१ —

ज्ञानदेव को ईश्वर का सगुण साक्षात्कार पहली बार हुआ।
उस प्रसंग का वर्णन वह कर रहा है

सब संतों को साथ लिये, ईश्वर मुझसे मिलने आया है।
संत-समागम के कारण ही
मुझे इतना आनंद प्राप्त हो सका।
दिक्कालोत्पन्न सारे भेद अब विलीन हुए।
भूतमात्र में अब सिवा एक हरि के, कुछ भी शेष नहीं रहा।
सारी बुद्धि-शक्तिसहित उसे जानें,
और सारी वाक्शक्ति से उसको बखानें।
इसके सिवा अब दूसरा कोई काम ही नहीं।

ज्ञा.गा.

— १०२ —

आज का दिवस निःसंशय सुवर्णमय है ।
क्योंकि आज धर्म-मेघरूप समाधि के अमृत की वर्षा हो रही है ।
भक्तवत्सल उपास्य देवता ईंट पर खड़ी* है ।
वही हृदय के गर्भगृह में दर्शन दे रही है ।
और वही व्यापक विश्व-रूप में प्रकट हुई है ।
ऐसी त्रिविध प्रतीति एकत्र होने पर
और किस कृपा की अपेक्षा करें ।

— १०३ —

निवृत्तिनाथ ने देखने में एक छोटा-सा ही,
किंतु आत्मज्ञान का बीज बो दिया ।
उसमें से एक जीवनव्यापी उपासना की वेला अंकुरित होकर आकाश पर चढ़ी ।
देखते-देखते उसमें विविध विचाररूप असंख्य फूल फूले ।
जितने चुनते हैं—
उतने नये आते ही हैं ।
इन विचार-कुसुमों को मनन के गोफ में गूँथने का भाग्य
ज्ञानदेव कहता है—मुझे मिला ।
उनकी सुंदर माला पिरोकर,
ज्ञानदेव ने वह उत्तरीय, भगवान् को समर्पित किया है ।

---

* लिंग, संस्कृत के अनुसार । स्पष्टीकरण प्रस्तावना में ।

— १०४ —

कहाँ उलझा रहता है जीव-भ्रमर का चित्त ?
सुखानुभव की मिठास में !
लेकिन हमें तो ईश्वर का सगुण दर्शन हुआ है,
जिसमें सारे सुख ढाले जाते है।
और जो आनंद का मानो प्रत्यक्ष रूप ही है।
योगियों को वह सुख अपनी ध्यानावस्था में, ब्रह्मरंध्र में उपलब्ध होता है।
वही हमें साकार मूर्ति के चिंतन से
तीनों लोकों में देखने को मिलता है।
फिर जब यह अनुभूति होती है
कि हमारी वह सगुण मूर्ति,
और हम स्वतः,
और यह विश्व,
तीनों एकरूप हैं
तो मन केवल मतवाला हो जाता है।

— १०५ —

निर्गुण की चारपाई बिछी है।
उस पर सगुण की शय्या सजी है।
उस शय्या पर साकार मूर्ति लेटी है।
ऐसा है विश्व का स्वरूप।
हमारा मन—उस मूरत के ध्यान में रम गया है।
आँखें—उसके दर्शन में।
नहीं, उसका दर्शन ही हमारी आँखों में रमा है।
अंत:करण की चारदीवारी में चिंतन का मंदिर,
भीतर, जीवन का गर्भागार,
और उसके भी भीतर वह मूर्ति,
ऐसा है यह नित्यानंद।
निशुद्ध वृत्तिशून्यता उस वैकुंठ की ओर जाने की बाट है—
जिसका ज्ञानदेव निरंतर पथिक है।
और इसलिए वह नित्य वैकुंठ में ही रहता है।

— १०६ —

आत्मा प्रकाशरूप;
परंतु सारा प्रकाश —
देहरूपी परदे से आच्छादित !
यह थी हमारी जीव दशा।
लेकिन उपासना–मूर्ति के चिंतन से
वह दशा अब बिलकुल पलट गयी है।
देह तो आत्मा की ज्योति प्रकट करनेवाला दीपक ही बन गया है।
उस दीपक के प्रकाश में
आसपास निगाह डालिये,
तो सब ओर दीये ही दीये नजर आ रहे है।
सबके देह–मानो आत्म-ज्योति से प्रज्ज्वलित दीये।

तिरासी

फिर ध्यान काहे का कीजियेगा ?

बिना किये भी वह हो ही रहा है।
निराकार वस्तु आकार मे लुप्त हुई थी।
किन्तु अब वही आकार में प्रकट हुई है।
अब रज्जु-सर्प का अस्त हुआ।
और सुवर्ण-कंकण का उदय हुआ।

एक कृष्ण-मूर्ति के चिंतन ने
सारी सृष्टि ही कृष्णमय कर डाली।

जगत में सर्वत्र जब एक ही वस्तु हो जाती है,
तब चित्त चाहे कहाँ क्यों न भटके
फिर भी एकाग्रता ही है।
चित्त थामकर ध्यान करें तो भी वही एकाग्रता;
और चित्त का विसर्जन करें तो भी वही एकाग्रता।

इतना होने पर,
सारा भय जाता रहा।
किंबहुना, भय का भय भी जाता रहा।
इसलिए अब बेशक पूर्ववत् डरने में भी हर्ज नहीं।
साधकावस्था में जिन भयों का औचित्य था
उन्हें सिद्धावस्था में भी अगर सँभाल लिया—
तो हर्ज क्या हुआ ?
चौरासी

— १०७ —

जाग्रति में कहीं चरणों की आहट सुनता हूँ।
लगता है—आंगन में कौन बोला होगा ?
देखने जाता हूँ, तो आंगन का होता है वृंदावन,
और मनुष्य का होता है श्रीकृष्ण।

स्वप्न में उसी एक मूर्ति के चित्र हिलते हुए दीखते हैं।
समझ जाता हूँ कि चित्त में
अब और किसी भी वस्तु की प्रीति रही नहीं।

नींद आती है तो इतनी गहरी कि सारी अनुभूति कृष्णमय
हो गयी हो।

हजार कीजिये, जागता ही नहीं।
ज्ञानदेव, ज्ञानदेव कहकर लोग पुकारते हैं।
लेकिन सुनता कौन है ?
इसलिए अंत में विट्ठल नाम की गर्जना करते हैं;
तब ज्ञानदेव जागता है।

ज्ञानदेव की हालत बतलाने जैसी नहीं।

— १०८ —

हे देव !
कोटि-कोटि चंद्रमाओं की सौम्य प्रेममय कांति–
तेरे भाल-प्रदेश पर मैं देख रहा हूँ ।
प्रसन्नता से मुसकरानेवाला तेरा वह मुख,
तेरे वह निर्लिप्त निर्मल नेत्र,
मेरी आँखों से कभी ओझल नहीं होते ।
लेकिन फिर भी
इतने से मेरा संतोष नहीं होता ।
मुझे अब तेरी हरकतें देखनी हैं ।
मैं चाहता हूँ कि हर क्षण तू मुझसे प्रेमालाप कर रहा है,
चिंतन कालीन दर्शन पर्याप्त नहीं है ।
सक्रिय और बोलता दर्शन चाहिए ।

इतना कहना ही था
कि ज्ञानदेव के दुलारों की पूर्ति करनेवाला श्रीकृष्ण
अपना हाथ हिलाने लगा ।

१८. योगियों के लिए दुर्लभ

— १०९ —

तुम्हारे चरण मैंने देखे ।
मेरा मन शांत हुआ ।
मैं अब सुखेन इस देह में रह सकता हूँ ।
कारण देह में रहते हुए भी, मै अपनी ही जगह हूँगा;
और, भगवान् के गीत गाता रहूँगा ।
मेरे सारे नातेदार,
इन संतों के मेले में हैं ।
भगवान् की सौगंध है कि अब भविष्य में
मैं प्राण-त्याग की बात कभी नहीं करूँगा ।

— ११० —

योगी विश्व को किनारे हटाकर
परमेश्वर को देखने का प्रयत्न करता है।
इसलिए उसको वह सधता ही नहीं।
बल्कि तत्त्व-विचारों के नाना संदेह निर्माण हो जाते हैं।
और भेद अधिक ही पक्का हो जाता है।
ज्ञानदेव कहता है—
मैने, इससे उल्टी प्रक्रिया द्वारा,
विश्व के ही सहित ईश्वर को देख लिया है।
इसलिए अनंत रूप में
और अनंत वेश में,
मुझे उसका दर्शन प्राप्त हुआ।
और निरंतर होता ही रहता है।
परंतु, इतना होते हुए भी;
दर्शन की खूबी यह है
कि विठ्ठल मूर्तिरूपी उपासना के संकेत का मात्र लोप नहीं हुआ।

— १११ —

ईश्वर का रूप अब मेरे ही रूप में समा गया है ।
इसलिए, दर्शन भी कुंठित हो गया है ।
केवल एक भाव बाकी रहा ।
और देह भी उसीमें विलीन हो गयी ।
इधर देह नहीं,

उधर देव नहीं,
ऐसी है यह दशा।
प्रलय-काल की बेला में
जब कि सब जलमय हो जाता है।
न उद्‌गम रहता है, न प्रवाह, न संगम;
ठीक उसी तरह
अब न तो कुछ देखने जैसा है,
न कहने जैसा,
न करने जैसा ही !

परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ है ही नहीं।
आश्चर्य की बात यह है
कि ज्ञान स्पष्ट है,
यद्यपि ज्ञेय कुछ नहीं।

अब तक हृदय में, आत्मरूपेण, ईश्वर को देखता था।
किंतु निवृत्तिनाथ के उपदेश का चमत्कार देखिये
कि शरीर का अंग-अंग ही वह बन गया है।
उसके न नाम, न रूप
लेकिन आज उसने सारे नाम और सारे रूप धारण कर लिये है
और रोज नये-नये धारण करता ही है।
आदि वही,
अंत में वही है,
और मध्य में, घना वही भरा है।

— ११२ —

लक्ष का मोल देकर,
जगत से निराली अनमोल वस्तु हासिल की है।
लेकिन मालकियत तो क्षणमात्र की ही है।
दूसरे क्षण भी मालकियत चाहते हो,
तो फिर लक्ष देना होगा
हर क्षण नया-नया लक्ष
और हर क्षण मालकियत का नया-नया हक।

— ११३ —

ज्ञानयोगी का निर्गुण निराकार ब्रह्म—
मानों पुष्प-वृक्ष का बीज है ।
ध्यानयोगी का सगुण निराकार परमेश्वर—
पुष्पवृक्ष की कलिका,
हम भक्तों का सगुण साकार विश्वव्यापक विष्णु
विकसित पुष्प है ।
उसके परिमल से यह सारी सृष्टि सुरभित हो उठी है ।
उसकी कांति से सारा विश्व रमणीय हो गया है ।

दर्शन

कमल-नयन की वह कांति,
आज सारी-की-सारी मेरी आँखों में खप गयी है।
पानी में पानी मिल जाने की उपमा उपनिषदों ने दी है।
लेकिन मेरी स्थिति,

आकाश में आकाश के मिल जाने जैसी हुई है।
सारी सृष्टि, ब्रह्मानंद से व्याप्त हो जाने के कारण
प्रपंच के रहने के लिए जगह ही नहीं रही।

मधु से ऐसे ओत-प्रोत वेद,
लेकिन उन्हें भी उसके माधुर्य का वर्णन करने की कोशिश में
हार मानकर,

और नेति-नेति कहकर,
चुप बैठने की नौबत आवे।
क्योंकि वह रूप ऐसा है ही नहीं कि बोलकर बताया जा सके।
हाँ, लेकिन हस्तगत तो वह हो चुका है।
और इतना होने पर भी—
मेरी बात खतम नहीं होती,
और खोज जारी ही है।

विट्ठल से भेंट का चमत्कार ही यह है
कि लब्धि के बाद भी खोज जारी ही रहेगी।

— ११४ —

ईश्वर स्वरूप की अनुभूति के साथ,
यह सारा जगत बिंब मानों ग्रास लिया गया ।
इससे मतलब ?
क्या ऐसा हुआ कि मानो कुछ दीखता ही नहीं ?
या और ही कुछ दीखने लगा ?
उसकी ऐसी कोई पहचान नहीं जो बतायी जा सके ।
जगत् अर्थात अपना रूप निहारने का शीशा ही है ।
जैसे हम, वैसा जगत ।
अरूपा ने शीशे में देखा,
अर्थात् जगत की दृश्यता लुप्त हुई
और द्रष्टा का द्रष्टापन भी लुप्त हुआ ।
दृश्य और द्रष्टा को अलग करके,
केवल दर्शन ही बचा ।
वह तो जहाँ तहाँ है ही ।
उसे नहीं उदय, नहीं अस्त,
समाधि और उत्थान आदि झंझट नहीं ।
थोड़ी देर स्फूर्ति,
और थोड़ी देर अस्फूर्ति
इस तरह का द्वैत नहीं ।
जगत् में असंख्य जीव बचे ही नहीं !
एक ही एक विठ्ठल है ।
और वह सुख साम्य का अनुभव अखंड कर रहा है ।

— ९९५ —

कोटि-कोटि जनम जिस साधना का आचरण हुआ,
इस देह में वह चरितार्थ हुई, संपन्न हुई ।
कारण, साधना की तलवार चलाने के लिए,
सामने प्रपंच बचा ही नहीं ।
निरंतर ध्यानपूर्वक की गयी अविच्छिन्न उपासना करने का
यह लाभ मुझे मिला है ।
यह मत पूछिये कि इन चरणों की प्राप्ति किन उपायों से हुई ।
कौनसा उपाय नहीं किया यही पूछिये ।

अब चिंतन कैसे करूं ?
चिंतन करने का मतलब है, कुछ छोडना पडता है,
कुछ पकड़ना पड़ता है ।
वैसा तो अब कुछ संभव ही नहीं,
क्योंकि यह सभी हरिस्वरूप होकर
चित्त में अंकित हो गया है ।
मानों चित्त ने निगल लिया है,
देह फेंककर मैं उसका आलिंगन कर चुकी हूं ।
और वह परम समर्थ मुझमें समा गया है ।

१६. नीलवर्ण साक्षात्कार

— ११६ —

वह आनंद निधि, आनंद समुद्र,
आज परिपूर्ण रूप से मेरे वश हो गया है।
इसलिए, बजाय इसके कि मैं उसकी ओर जाऊँ,
वही मेरी ओर आकर मुझे बुला रहा है।
मेरे लिए आज वास्तव में दीपावली है।
प्रेम की कैसी नवीनता
कि प्रपंच का रंग ही जिसे कभी लगा नहीं–
और प्रपंच के बाहर जिसका संचार रहा,
वह आज मेरे घर आया है।
घर आकर सारा घर उसने व्याप लिया है।
और फिर भी, क्योंकि जगह पूरी नहीं पड़ी,
मेरे हृदय को अंतर्बाह्य, उसने भर दिया है।

— ११७ —

पाँचों इन्द्रिय-वृत्तियों के निरोध द्वारा,
समाधि की साधना करनी होती है ।
पर मैंने तो उस समाधि को भी पीछे छोड़ दिया है,
और भगवान् के सगुण स्वरूप का, कृष्णमूर्ति का वरण किया है ।
सारी इन्द्रिय-वृत्तियाँ उसे समर्पित कर दी हैं,
और प्रेम-स्वरूप भक्ति साध ली है ।

नाम के अनुरूप कृष्ण सचमुच काला ही है ।
महामायावी है,
प्राचीनकाल से, अनादिकाल से वह वैसा ही है,
इसीलिए तो वेद जैसों को भी उसने पागल बना रखा है ।
उसने मुझे प्रपंच से छुड़ाया,
जनम-मरण से जुदा किया,
इसलिए मैं उसकी एकनिष्ठ भक्त हो सकी ।

— ११८ —

माया की काली रात फैली है,
और वह मायावी प्रभु,
ठीक वैसा ही काला रूप लेकर,
आँखमिचौनी खेल रहा है,

दर्शन

काले में काला छिप जाता है,
और पहचान किसीको होती नहीं,
लेकिन मैं ठीक और सहज उसकी ओर खिंच जाती हूँ।
काली रात मुझे बाधा नहीं पहुँचाती।
आकाश की नीली पार्श्वभूमि में,
जल से परिपूर्ण कृष्ण मेघ जैसे सुंदर दिखाई देते है,
वैसा मुझे उसका रूप दिखाई दिया।
वह तो निर्गुण है।
उसे रूप कैसा ?
लेकिन शून्य आकाश पर भी नीला रंग उतरता है,
और वही मेघाच्छन्न होकर घना काला बनता है,
उसी तरह, निर्गुण का सगुण और सगुण का सुंदर साकार बना
हुआ वह श्याम मेरी आँखों के वशीभूत हो गया,
मेरी दृष्टि में मानो समा गया।
तब से उसकी आँखमिचौनी बंद हुई,
और मेरे लिए वह बिलकुल सीधा हो गया,
कालेपन के साम्य के कारण
माया और मायावी का भेद मैं चीन्ह नहीं सकी थी।
और इसलिए, आज तक, उसने खूब ही भ्रम में डाल रखा था मुझे,
लेकिन दृष्टि के प्रकाश ने उस भेद को उजला कर दिया,
मै अब मायावी को ही पहचानती हूँ,
माया को पहचानती ही नहीं।

— ११९ —

पिछले दिनों भगवान् का ध्यान किया करता था,
फलतः मन अंतरात्मा में इतना लीन हो जाता था
कि वह कुछ भी किये बाहर आही नहीं पाये,
लेकिन अब तो बिलकुल उल्टा हुआ है,
जब से सारी दुनिया में कृष्णमूर्ति प्रकट हुई,
तब से मन लौटकर आँखों में आ बसा है,
मानों आँख ही वह बन गया है।

प्रभु का वह उज्ज्वल अमूल्य रूप—देखते ही रहें।
कैसा है वह रूप ?
वह है काला स्याह,
(मैं यह विनोद से नहीं, सरल भाव से कह रहा हूँ)
और वह इतना उतना भी नहीं,
ढेर भरा हुआ है,
उसकी एक कूँची से
सारा जगत् रँगा हुआ है।
माया ईश्वर को ढँक देती है, इसलिए वह कुरूप, काली
ईश्वर उस माया को ढँक देता है, इसलिए वह उज्ज्वल काला।

— १२० —

परमेश्वर वह, जो इस हृदयाकाश में विराजता रहता है,
वही महाकाश में भी है।
अखंड! एकरस!
परन्तु, उसके विषय में, अपने-अपने दृष्टि-भेद के कारण,
भिन्न-भिन्न अनुभव होता है।
किसीको वह सत् प्रतीत होता है,
किसीको चित्,
किसीको आनन्द,
और किसीको वह सच्चिदानन्द रूप में दर्शन देता है।
वास्तव में उसे इसके भी परे का कहना चाहिए।

लेकिन उसका वर्णन करने के लिए
शब्द ही अपर्याप्त हैं।
इसलिए सार इसीमें है
कि सारे शब्दवाद छोड़कर
अखंड रूपेण उसीमें निवास करें।
ज्ञानदेव कहता है कि मुझे यह दृष्टि मिल गयी है;
इसलिए भेद और अभेद की गुत्थी सुलझ गयी है,
और आत्मरूप में मुझे उसका दर्शन निरंतर होता रहता है।

— १२१ —

ध्यानावस्थामें, योगमाया से घिरे हुए ईश्वर का कृष्ण वर्ण साक्षात्कार होता रहता है।

उसी तरह आकार प्रतीक द्वारा,
उसकी व्यापकता पर धारणाध्यानादि करते समय,
उसका नीलवर्ण साक्षात्कार भी होता रहता है।
उस अनुभव को बताते हुए ज्ञानदेव कहता है :

ईश्वर-स्वरूप नीला ही नीला दीख रहा है।
आकाश की तरह व्यापक,
लेकिन आकाश की तरह पोला नहीं,
प्रीति से परिपूर्ण,
लेकिन प्रीत में पक्षपात की कल्पना आना चाहती है।
वैसे भी नहीं,
समत्व युक्त,
इस तरह के उस प्रातिभ दर्शन में
सारी साधना नीले रंग से रँगी हुई,
सारे व्यवहार भी उसी रंग में रँगे हुए।
ज्ञानदेव मानों नीलवर्ण की पाठशाला में शिक्षण ले रहा है।
गोपी, श्रीकृष्ण के नीलवर्ण की लगन में
स्वयं वैसी ही बनकर
उससे समरस हो गयी।
वही यह स्थिति।

— १२२ —

सामने नील दर्पण सजा हुआ है ;
उस पर नीले रंग का लेप दिया गया है ;
भीतर नीले रंग का चेहरा दीख रहा है ;
बीच का आकाश भी नीले रंग में लुप्त हो गया है ;
नील होवें,
नीले में रमें,
नीले में पावन हों,
ऐसा यह हरिरंग ज्ञानदेव के हृदय में समा गया है ।

— १२३ —

एक बार ज्ञानदेव और चांगदेव
पारस्परिक अध्यात्मिक अनुभवों का अनुसंधान कर रहे थे।
ज्ञानदेव ने चांगदेव से पूछा—
ध्यानावस्था में जो विविध भाव सूचक विचित्र वर्णों से नटता है,
जो अंतर्नाद सुनाता है,
तेजो बिंदु के रूप में जो दोनों भौंहों के बीच नाचने लगता है,
और जरा सी देर में शांत होकर इन सबको थोथा कर देता है,
वह तत्त्व कौनसा है ?
प्रिय से भी जो प्रियतर लगता है
गगन से भी विशाल प्रतीत होता है,
त्रिभुवन को जिसकी अत्यंत आवश्यकता है,
फिर भी जिसकी उपलब्धि नहीं,
वह तत्त्व क्या है ?

चांगदेव ने जवाब दिया :
शायद हम ही वह हैं !
ध्यान तो एक हमारी कल्पना मात्र है
और सृष्टि का सारा माधुर्य अपने ही भीतर निहित है।

ज्ञानदेव ने कहा :
मुझे यह बड़ा प्रिय लगा,
मेरे मन की ही तुमने यह कही;
अब मै और तुम एक हुए।

१७. ब्रह्मांड आलोकित अनुपम तेज से !

— १२४ —

सर्वोच्च स्वर्ग के उस पार
परम साम्यरूप आकाश फैला हुआ है।
और वहाँ सुलगा हुआ है एक तेज,
वस्तुतः उसे तेज भी नहीं कहा जा सकता,
और न यह ही कहा जा सकता है कि सुलगा हुआ है;
क्योंकि, तेज के साथ प्रखरता सूचित होती है,
और जलने से "सक्रियता"।
परंतु इसलिए
उसे शीतल शात भी नहीं कहा जा सकता।
कारण वह प्रखरता को पेट में रखकर शीतल है।
उसकी शाति में क्रिया की प्रचंड प्रेरणा भरी हुई है।
वह सगुण-शक्तियुक्त निर्गुण है।

फिर अगर वह इस तरह परस्पर विरोधी उभय शक्तियों से संपन्न है,
तो भक्तों की भाषा में उसे ईश्वर ही क्यों न कहा जाय ?
ईश्वर कहने से
सृष्टि का यह आडंबर फिजूल ही आँखों के सामने खड़ा होता है।

फिर, शून्य से अभाव का अर्थ न लेनेवाले हों
तो शून्य कहने में हर्ज नहीं।
कारण वह तो है—
तेजस्वी, शात,
उभयरूप, शून्य।
चारों प्रकारों से भिन्न ऐसा है वह।

— १२५ —

ध्यान-समाधि में मगन रहनेवाले एक साधक को लक्ष्य करके ज्ञानदेव कहता है :

दृष्टि का आनंद निःसंशय भीतर ही भरा हुआ है।
अंतर्याम जितना उज्ज्वल होगा
जगत उतना ही मंगल होगा।
आंतरिक आत्माराम का दर्शन होगा,

तो बाहर हरिस्वरूप भरा हुआ दिखाई देगा।
सिर्फ भरा हुआ ही नहीं,
भरकर छलकता हुआ।
फिर तू समझ सकेगा
कि आज तक तू जो-जो कुछ बोलता था,
और आज भी दुनिया में जो कुछ बोला जाता है,
वह अनजान में, तोतरी भाषा में ॐकार जप ही है।
लेकिन तेरी स्थिति अभी ऐसी नहीं है।
तू अखंड अनाहत ध्वनि तो सुन ही रहा है,
फिर भी रूप दर्शन तुझे बिंदुमात्र नहीं हुआ है।
दृष्टि अंतर्मुख करके,
क्रियाशून्य समाधि प्राप्त करें—
इतना काफी नहीं है।
आगे यह भी जरूरी है
कि उस समाधि का भी लोप हो,
और उसका पर्यवसान हो—
सहज स्थिति में !
फिर से दृष्टि लौटाकर
ध्यानवृत्ति रूप सापेक्ष निवृत्ति को समाप्त करना पड़ता है।
वास्तव में यही सच्ची निवृत्ति होती है।
फिर आँखें खोलकर बेफिक्र दुनिया की ओर देखिये,
रूप-दर्शन की कमी नहीं है।

— १२६ —

ईश्वर न तो दूर है, न नजदीक।
बाह्य जगत में उसे ढूंढ़ना ही गलत है।
अंतःकरण की बिलकुल तह में उसका अधिष्ठान है।
अंतर्वृत्ति से देखिये,
तो सूक्ष्म जीव-जंतुओं में भी,
तथा अणुरेणु तक में,
वह दिखाई देगा।
अन्यथा, बाह्य दृष्टि से, विज्ञान के प्रकाश में
उसका कितना ही शोध कीजिये,
वह दिखाई नहीं देगा।
उसे देखने के लिए,
दृष्टि का कोई उपयोग नहीं,
वही दृष्टि का द्रष्टा जो है।
उसका वर्णन करने के लिए
वाणी निकम्मी है,
वही वाणी का वक्ता जो है।
इसलिए ज्ञानदेव कहता है :
आध्यात्मिक चर्चा बहुत मत कीजिये,
आइये, हृदयाधिष्ठित परमात्मा को शांतिपूर्वक निहारें, ध्यायें !

— १२७ —

मनोरूप चंदा लुप्त हुआ,
किंतु अनेक विध मंगल तारकाओं की सौम्य चाँदनी छिटक रही है।
तर्क-रवि तो कबका अस्त हो चुका है।
और इसलिए, विचारों की किरणें भी अस्तंगत हो चुकी हैं।
ऐसी उस निर्विकार प्रसन्न अवस्था में
ज्ञानदेव को एक अणुप्रमाण परमसूक्ष्म स्वरूप दिखायी दे रहा है।
तीनों जगत का जीवन,
संसार का आदि कारण कहानेवाला मायापति भगवान्,
एक छोटे से बिंदु में समाया हुआ है।
उसीमें से, विश्वरूप सगुण और विश्वातीत निर्गुण फैला हुआ है।

— १२८ —

समाधि की गहरी अवस्था में देखा
कि परमात्मा, अपनी परछाया में, जीव स्वरूप में, घुलमिल गया है।
और यह सारा जगत बिंब निगलकर,
वह पुनः अपने मूलस्वरूप में प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रकार जब यह अनुभूति हो जाती है
कि जीव ईश्वर स्वरूप है और जगत् मिथ्या है,
तो जीवन का स्वरूप ही बदल जाता है,
दिन फीका पड़ जाता है,
रात उज्ज्वल हो जाती है,
सभी मूल्य विपरीत हो जाते हैं,
वृत्तियों के उदयास्त लुप्त हो जाते हैं;
अर्थात्
त्रिगुणों का खेल ही खतम हो जाता है।
वृत्तियों का चढ़ाव-उतार ही नहीं,
तो त्रिगुण क्या कर सकते हैं ?
मनुष्य मानों दर्पण बन जाता है।
खुद को विकार ही नहीं,
औरों के विकारों का निश्चित नाप देख लीजिये।

ज्ञानी आदमी की यही निशानी है,
कि दुनिया का जो रूप जगत को कभी समझ में नहीं आ सकता,
वह ज्ञानी मनुष्य की निर्विकार बुद्धि में
ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित होता है।
ज्ञानदेव द्वारा बतायी इस निशानी को सुनकर,
निवृत्तिनाथ को संतोष हुआ।

— १२९ —

सारे जगत पर अद्भुत कांति छायी हुई है,
गहरी हरिप्रभा से ब्रह्मांड आलोकित हुआ है,
विश्वाकार के ढाँचे में,
तदाकारता, हरिमयता, ढाल दी है।
उसे भी खंड नहीं,
और इसे भी खंड नहीं,
ब्रह्मरस में जीवनरस समा गया,
सारा जीवन, याने प्रेम का स्पन्दन, प्रेम प्रकाशन!

अंतर्याम में अखंड अंतर्नाद सुनायी दे रहा है।
बाहर भूतमात्र में हरि-ज्योति दिखाई दे रही है।
इस तरह अंतर्बाह्य हरि से घिरा हुआ है वह पूर्ण पुरुष।
जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति,
तीनों अवस्था उसे ऊपर-ऊपर भले प्राप्त होती दिखाई दे,
लेकिन अंतर् अनुभव से, वह महान् आत्मा इन तीनों से निराला ही है।
उसके लिए निरन्तर ऊषा ही ऊषा है।
निवृत्तिनाथ की यह कृपा है,
जो ज्ञानदेव से इतना सब तत्त्वसार कहला रही है।

१८. विश्वरूप-दर्शन-योग

— १३० —

ज्ञानदेव अपने विश्वरूप दर्शन का अनुभव कह रहा है :
विश्वरूप देखने लगा—
तो पहले चारों ओर प्रभु का रूप दीखने लगा।

थोड़ी देर से बदलते-बदलते,
उसका मेरे रूप में रूपांतर हो गया।
सब ओर मैं ही मैं,
एक ही एक;
मेरी ही भक्ति मैं करूँ, ऐसी नौबत आ गयी।
कुछ देर तो दोनों स्वरूपों में साम्य था।
आगे दोनों मिलकर एक ही बन गया।
साम्य का स्थान ऐक्य ने ले लिया।
तब तो ईश्वर नाम भी लुप्त हुआ,
भक्ति कुंठित हुई,
मेरा विचार मुझसे ही व्याप्त हुआ।
सहा नहीं गया।

साम्य तक तो ठीक था।
देव और भक्त का अद्वैत रहे;
लेकिन मन की चाह
कि भिन्नता पहचानने का कुछ इंगित भी रहे।
इसके बजाय,
एकत्व की मार पड़ने के कारण,
व्याकुल होकर मैंने प्रथम दर्शन में ही निवृत्तिनाथ से कहा :
इंगित कहाँ है ?
इंगित बताइये ?
इंगित बताइये ?

— १३१ —

सबके हृदयों की आर्तता
सबका दुःख,
मेरे हृदय में प्रकट होता है।
यह सारा विश्व मेरा ही शरीर है
और फिर वह भी ब्रह्ममय है
ऐसा मैं अनुभव करता हूँ।
प्रेम, जो सबको प्यारा है,
मैं ही हो बैठा हूँ।
अपनी प्रीति भंग न हो,
अपने मनोरथ सुफलित हों,
इस बारे में, हर प्राणी को जो-जो तड़पन होती है,
वह सब मुझे ही होती है।

मुझे क्षुद्र तो कुछ मिलता ही नहीं।
जो मिलता है, आकाश के समान विशाल और महान् मिलता है:
फिर वह क्षुद्र माना गया जंतु ही क्यों न हो।
असंख्य आकाश एक-दूसरे से मिल रहे हैं,
ऐसा अद्भुत दर्शन है मेरा।
मेरे लिए मानो आकाशों की खान ही खुली है।

कहा जाता है,
ऋजु कुटिल नाना वेश लेकर, परमेश्वर लीला कर रहा है।
लेकिन मेरे लिए, कुटिल या टेढ़ा कहीं भी नहीं है।
जो कुछ है वह ऋजु सरल ही है।
ऊपर-ऊपर से, काम-क्रोध आदि से,
अथवा द्वेष, ईर्षा असूया आदि से प्रेरित होकर
व्यवहार करते हुए कोई दीखे,
तो भी—उनके उन विकारों की जड़ में
शुभाकांक्षा ही भरी हुई है।
मैंने उनके हृदय में प्रवेश करके यह देख लिया है।
विकारों की जड़ में छिपी हुई ब्रह्म-प्रेरणा,
विकारों की ब्रह्म-कारता,
चीन्हने के कारण,
मुझे सहज ही सबके लिए सहानुभूति लगती है।

— १३२ —

शरीर याने मृत्तिका पिंड—
इस भावना से साधना का आरंभ किया।
आज उस भावना का अति दिव्य रूपांतर हुआ है।
अब भी वह है तो मृत्तिका पिंड ही।
लेकिन उसके अर्थ की गहराई अगाध हो गयी है।
आज वह बना है मिट्टी का ज्योतिर्लिंग।
उसमें स्थूल बुद्धि की चेतना नहीं।
मन का चलन नहीं।
इन्द्रियों का गुण नहीं।
हाड़-मांस का रूप नहीं।
ऐसे इस अगाध ज्योतिर्लिंग को
मैंने, बिना हाथ के, प्रारब्ध शेष के बल से
भक्ति के लिए सँभाल रखा है।
जिस हेतु से मैंने वैराग्य धारण किया था,
वह मेरा सारा मनोरथ
ईश्वर की कृपा से पूर्ण हो गया है।

— १३३ —

विश्वरूप स्वयंभू ज्योतिर्लिङ्ग सामने दीख रहा है।
शेषनारायण-रूप आसन लगा है,
समुद्रवलयांकित पृथ्वी शिवलिंग बनी है।
स्वर्ग-मूलाधार-रूप पिंडिका।
इस दिव्य ज्योतिर्लिङ्ग की पूजा भी यथासांग हो चुकी है।

मेघ-धाराओं ने उसे स्नान कराया है,
तारकाओं के फूल चढाये है,
चंद्ररूप फल समर्पित किया है,
सूर्यरूप दीपक से आरती की है,
समस्त जीवराशि का जीवभावरूप नैवेद्य उसे निवेदित किया है।
विराट्-रूप के अंतर्गत ब्रह्मानंद से उसे वंदन किया है

ज्ञानदेव अपने हृदय में,
ऐसी इस महापूजा का ध्यान किया करता है।

— १३४ —

ध्यान की परम स्थिति में,
जीव की कल्पना-सृष्टि सर्वथा लुप्त होती है।
करीब-करीब स्वरूप-शून्यता ही प्राप्त होती है
चित्त-चतुष्टय शून्य होता है।
उसके भी परे की दहराकाश जीव-प्रकृति,
वह भी शून्य होती है।

चित्त-चतुष्टय के इस ओर व्यक्त सृष्टि खड़ी ही है।
जीव प्रकृति के परे अव्यक्त सृष्टि वैसी ही है।
दोनों ध्यान-कक्षा के बाहर !
ध्यान-शक्ति से उनका लोप नहीं होता।
गणित की भाषा में दोनों अनंत या निर्शून्य हैं।
एक व्यक्त अथवा इस ओर का निर्शून्य
दूसरा अव्यक्त या उस ओर का निर्शून्य।
ये दोनों निर्शून्य।

और जीव की कल्पना के वे चारों पाँचों शून्य
मिलकर विश्वरूप बना है।
यह सब जो बना है,
और उसे देखनेवाला,

सब एक ही एक ब्रह्मतत्त्व है ।
वही हम सबकी निजवस्तु है ।

शून्य का निरसन हुआ है
तो निर्शून्य सहज ही निरुपद्रवी होता है ।
और फिर दर्शन होता है,
उस अपनी निज वस्तु का, जो उभयातीत है ।

फिर ध्यान की आवश्यकता नहीं ।
ध्येयमयता, तदंजनता अस्त हुई ।
निरंजनता उदित हुई ।
बिलकुल सामान्य मनुष्य की तरह अब वह दीखेगा ।
ज्ञानदेव कहता है :
उस अवस्था को मैंने अनुभव किया है,
और अनुभव से ही वह समझ में आ सकती है ।
लेकिन यह अवस्था समझाने के लिए
निवृत्तिनाथ ने एक संकेत का शब्द खोज निकाला है :

उन्होंने इसे अतिलीन अवस्था कहा है
सामान्य मनुष्य का चित्त सब ओर जाता रहता है ।
इसका भी सब ओर जावेगा ।
उसका भी चित्त लीन नहीं ।
इसका भी चित्त लीन नहीं ।

लेकिन उसका लीन नहीं याने वह "अलीन" है ।
और इसका लीन नहीं याने वह "अतिलीन" है ।

१९. बोध होकर भी अबोध

— १३५ —

अज्ञान जाकर ज्ञान मिलने पर
साधक को बोध की बाधा होती है।
मेरा लेकिन ज्ञान के बाद अबोध ही पक्का हुआ है।
बोध कैसा होता है, मै समझ ही नहीं सका।
आत्मज्ञान का वेग अपने आप शांत हुआ,
और ज्ञानी होने के बजाय मैं ज्ञान-स्वरूप हो गया।
गुरु-मुख से जब ज्ञान मिलता है—
तब सारी साधना ऐसी सहज सधती है,
और बोध का संकट टलता है।

— १३६ —

मैं ईश्वर को जानने गयी,
तो जानना अलग ही रहा,
लेकिन मेरा ही अस्तित्व समाप्त हो गया।
उसका दर्शन होने के पहले, मैं ही तद्रूप हो गयी;
इन्द्रियों सहित चित्त को आश्चर्य ने घेर लिया।

कुछ-न-कुछ दिव्य नाद सुनाई देता है
दिव्य रूप दीखता है, ऐसा प्रतीत होता था;
लेकिन मन में शक्ति शेष नहीं रही
कि उस पर अनुमान रचा जाय।
कुछ सजग होकर मन ने वैसा प्रयत्न भी किया;
लेकिन हार खाकर वह पीछे हटा;
उसका तेज कम पड़ा;
आखिर वह नष्ट हुआ।
पहले तत्त्व-विचार काफी कर रखा था
आत्मानात्म-विवेक का भी प्रकाश प्राप्त किया था;
लेकिन वह सारा उसके आगे लड़खड़ा गया;

सारा ज्ञान उसके आगे खो गया।

ईश्वर दर्शन ही सही।
लेकिन द्रष्टा में अलग रहकर देखने लायक द्वैत चाहिए;
ईश्वर को माया का वेष्टन चाहिए;
त्रिगुण नहीं, अर्थात् त्रिगुणों की छाया तो भी चाहिए;
यह सारा ही खंडित हुआ।
फिर दर्शन किसका कीजियेगा ?

दर्शन नहीं, तो क्या उसे अदर्शन कहा जाय ?
न वह दर्शन था, न अदर्शन ही था।
वह आस्वादन था।
गूँगे ने अमृत चखा—
उसको वह क्या बखाने ?
चखी हुई किसी भी मिठास का वर्णन अशक्य ही है।
अमृत की मिठास का और भी अशक्य !!
और गूँगे द्वारा तो सुतराम् अशक्य !!!

लेकिन उसका कुछ संकेत भी बतलाइयेगा या नहीं ?
जाग्रति की गहरी नींद—
ऐसा इस अवस्था का संकेत बताया जा सकता है।
अर्थात् इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार,
सब सोये हैं।
और देह के भीतर परमेश्वर जाग रहा है।

— १३७ —

उसे मैं ज्यों-ज्यों देखती गयी,
त्यों-त्यों तन्मय ही होती गयी।
आखिर सारी जीव-भावना खो गयी,
मानो चैतन्य ही चुरा लिया गया;
फिर वेचारे चित्त की क्या गति ?
ईश्वर-स्मरण भी (व्यर्थ) हुआ।
सब विकारों का विस्मरण
यही उसका स्मरण हुआ।

अनाहत ध्वनि सुनाई देती थी
उसकी गैल चलते-चलते
ईश्वर का विशिष्ट स्वरूप जानने का प्रयत्न किया,
तो त्रिभुवन ही उसके नाद से गूँज गया
ईश्वर की विशिष्टता का पता नहीं लगा
मेरा अंतर्-बाह्य सारा ईश्वर से भर गया।

— १३८ —

मैं अपने इस त्रिगुणात्मक संसाररूप गाँव को छोड़ गयी
और शांति से निर्गुण के एकांत में जाकर बस गयी।
वहाँ अनेकविध ध्यान-चिंतन करते-करते दर्शन हुआ
कि ईश्वर ही यह सब बना है।
जिसे मैं त्रिगुणात्मक संसार समझती थी, वह भी उसीका रूप है
वह निरंतर मेरे ही पास है,
उसके और मेरे बीच एक क्षण का भी परदा नहीं।

अब बोलने का काम ही नहीं,
वह मुझे सर्वांगीण भेंट कर चुका है।
और वह त्रिगुणों का गाँव ही हवा हो गया है।
त्रिगुणात्मक माया पर निर्गुण चिंतन की कलम लगायी,
उसमें से सगुण परमेश्वर फलित हुआ।
ईश्वर ने स्वयं अपना ही रूप मुझे देकर
मेरे हाथों ऐसा चमत्कार सिद्ध किया।

— १३९ —

उसे मिलने गयी तो वही मै हो गयी
संज्ञा खो गयी।
फिर होश में आकर देखती हूँ—
तो मूर्ति का दर्शन ही नहीं।
उसका तरीका कुछ समझ में नहीं आता।
चिंतन की गति कुंठित होती है।
लेकिन लगा हुआ वेध तो छूटता नहीं।

अनुभव से एक बात समझ में आयी
कि उसके भी दर्शन की लालसा रखने से—
वह दूर ही जाता है।
विषयों की आसक्ति से ईश्वर-दर्शन का प्रश्न ही नहीं,
लेकिन ईश्वर-दर्शन की आसक्ति से भी वह दुराता है।
उल्टे वह भी आसक्ति छोड़कर,
स्वस्थ चिंतन साधन आचरते जायें
तो उसकी भेट शीघ्र से शीघ्र होती है।
इसलिए गुरु-चरणों में भाव रखकर सेवा करते रहें—
यही ईश्वर-प्राप्ति का उपाय ज्ञानदेव समझा है।

— १४० —

मैं अपने भीतर देखती हूँ
तो मुझे अपनी अहंता खोई हुई दीखती है।
उससे मन बिलकुल स्तंभित हो गया है।
मेरे भीतर विट्ठल
मेरे बाहर विट्ठल
मैं खुद भी विट्ठल।
और फिर, यह सब अनुभव करनेवाली मैं ही;
इसे क्या कहा जाय ?
अहंता ही खो गयी कहें ?
या अहंता अलग रही ही नहीं ?
अहंता व्यापक हुई कहें ?
कुछ भी कहिये,
लेकिन निवृत्तिनाथ ने मेरी यह ऐसी हालत कर रखी है सही।

— १४१ —

इसके आगे ध्यान-चिंतन आदि का प्रयोग चलाना—
याने अनुभूत ब्रह्मतत्त्व पुनः-पुनः देखना है।
उसमें से अधिक निष्पत्ति होने को नहीं।
इसकी अपेक्षा जिसकी कृपा से इतना ब्रह्मानुभव हुआ,
उस ईश्वर की और श्री गुरु की स्तुति, सहज गाते रहें
यह मन को अच्छा लगा।
देह का बलिदान हो जाने से साधना समाप्त हुई।
समाधान हुआ है
कामना सह माया का छंद हजम करके
परिपूर्ण आत्मरूप आँखों से देखा है।

आत्मस्वरूप निराकार कहें,
किंतु मुझे तो वही विश्वाकार दीख रहा है।
मानो चंदन-तरु में फल लगे हैं,
पीपल में फल लगे है।
अब संसार के दर्शन की बात ही मत निकालिये
केवल स्वरूपानंद में रहना है।
ज्ञानसमुद्र परमात्मा सृष्टिरूप लहरों से उमड़ रहा है।

— १४२ —

ब्रह्म-चिंतन रूप निर्जन अरण्य में मैं रहने लगी।
वहाँ निर्गुण ने मेरा मन खींच लिया।
चिंतन के लिए निर्गुण कठिन बतलाया जाता है
परंतु मेरे लिए वह आसान हो बैठा है
उसीका माधुर्य लगने लगा है
उसीमें मैं रम गयी हूँ।

इतनी कि मानो मैं निवृत्ति गुरु ही बन गयी हूँ।
निवृत्तिनाथ की स्थिति ही मेरी स्थिति हो गयी है।
निर्गुण परमात्मा सृष्टिरूप से सगुण साकार हुआ है—
ऐसा अनुभव किया

अर्थात् ईश्वर सहज हो गया,
निर्गुण चिंतन की आवश्यकता समाप्त हो गयी।
इस पर भी मनोविश्राम के तौर पर
घड़ीभर उसमें डुबकी लगाकर बैठना हो, तो बैठें।

२०. तू तो मैं रे, मैं तो तू रे!

— १४३ —

कहते हैं कि एक चातक होता है—
जो मेघ की ओर ध्यान लगाये रहता है।
और मेघ उसके लिए बरसता है।
यहाँ चातक रहा न ही है,
और ध्यान तो लग रहा है।
चित्तशून्य निर्विचार निदिध्यासन चला है।
उसके कारण प्रसन्न होकर
आखिर ब्रह्मरूप मेघ ने अमृत-वर्षा की।
जीव को संजीवन मिला।
जीव ब्रह्म हुआ।

लेकिन मुख्य चमत्कार इससे भिन्न ही है।
ज्ञानदेव कहता है—
वैसी उस अद्वैत हालत में भी
मेरा ब्रह्म का दर्शन और स्पर्शन जारी ही है—
बिना आँखों और हाथों के।

— १४४ —

प्राप्तव्य पा चुका।
जिसे देखने की लगन थी उसे देखा !
लेकिन देखते ही दृष्टि खो गयी।
फिर बाहुओं से आलिंगन करने गया
तो देह ही टूट पड़ा।
माया निरास हुई
और ईश्वर-दर्शन का प्रयोग समाप्त हुआ।

सामने गुरुमूर्ति खड़ी है।
सात्त्विक भावों से भरकर—
और गुरु के नाम का उद्घोष करके—
ज्ञानदेव ने गुरुचरणों में जीवभावना समर्पित कर दी है।

— १४५ —

तू मेरा है और मैं तेरा हूँ ।
प्रीति की इतनी एकता होने पर,
फिर दूजा भाव रहेगा कहाँ ?
वस्तुतः तू और मैं यह भेद मूल में है ही नहीं ।
लेकिन अज्ञानवश जीव के ध्यान में नहीं आता ।
इसलिए तू ही मैं हुआ हूँ यह विवेक से जानना होता है ।
और अनेकविध साधना करके दृष्टि मोड़कर
जीव का जीवन स्थान खोजते-खोजते—
मैं ही तू होना पड़ता है ।
और इतना होने पर ध्यान में आता है
कि इस सारे उपद्व्याप की आवश्यकता नहीं थी ।

एक मी दर्शन

— १४६ —

पहले की तरह भक्तिपूर्वक भगवान् की पूजा करने गया—
तो मैं ही भगवान् हो बैठा।
पूजा की हद तक भी भक्त और भगवान् का भिन्नत्व नहीं रहा।
नमक सागर से मिलने गया तो खुद ही सागर बन गया।
हरि चराचर में व्याप्त होकर पूजा व्यापक हुई।
वही हरि आत्मस्वरूप में विलीन हो गया।
इसलिए वह पूजा लुप्त हो गयी।
पूजा के लक्षण—
आवाहन और विसर्जन!
लेकिन व्यापकता के कारण
और एकात्मता के कारण
आवाहन शक्य नहीं
और आवाहन नहीं तो विसर्जन भी नहीं।
पूजा विधि संपन्न हुई।
सरूपावस्थान शेष रहा।

— १४७ —

कर्मयोगी कर्म आचरता है।
और फल-त्याग की युक्ति से
उससे अलिप्त रहने की कोशिश करता है।
हमारे लिए यह झंझट ही नहीं,
क्योंकि हम देह से भिन्न ही हैं।

भक्तिमार्ग में भक्त भगवान् की भक्ति करता है।
और भगवान् उस पर कृपा करके—
उसे मुक्ति देता है।
लेकिन हमारे लिए वह भी मार्ग रुक गया।
क्योंकि देव, भक्त, कृपा
सब हमारे में ही एकत्र हुई हैं।

क्षराक्षर विचार से ईश्वर को अलग करें।
और उसका ध्यान-चिंतन करते रहें,
यह ज्ञानमार्ग की प्रक्रिया भी हमारे लिए निकम्मी है।
क्योंकि सोहंसूत्र हाथ आ गया है।
और इसलिए पृथकता की आवश्यकता ही रही नहीं।
सारा विचार और चिंतन हम ही में समा गया है।

किंतु ज्ञानदेव कहता है—
ऐसी निर्गुण अवस्था में भी
मेरे मन का सगुण साकार का आकर्षण तो कायम ही है।

एफ सौ दर्शन

— १४८ —

दूध के कणकण में मलाई संचित है।
इतना ही कि दूध तपाने से वह अलग दीख पड़ती है।
उसी तरह विश्व में ब्रह्म भरा हुआ है।
तपश्चर्या से, साधना से, उसे प्रकट करना होता है।
उस हद तक ही तुम हम साधकों का काम।
वह जिन्होंने किया,
उन्हें मानो, मलाई अलग छाँटकर दी गयी।
जिसकी प्रतिभा को इतना दर्शन हुआ,
उसे वह दूध तपाकर—
मलाई छाँटने की भी जरूरत नहीं।

आप संतों की कृपा से यह दर्शन मुझे मिला।
समग्र ब्रह्मानुभूति,
तृप्तिरूप सहज वाक् स्फूर्ति,
और निरंतर विश्वप्रीति,
ऐसा मेरा जीवन बन गया है।
देह पर आशा ही नहीं है।
तो उससे उदास होने का भी कारण नहीं है।
अब मैं अलग
और दूसरे जीव अलग
ऐसा आभास करने जाऊँ तो भी सधेगा नहीं।
जीवन में ईश्वर पैठ गया है।
और तज्जन्य आनन्द
संत देख ही रहे हैं।

— १४९ —

जीना देह को सौंपकर स्वस्थ रहे—
तो मरण अपने-आप ही मर जाता है
समुद्र के बुदबुदे को समुद्र से अलग मान लिया,
तो वह क्षण में सूख जानेवाला है
और, समुद्र से जुदा न करते हुए
वह समुद्रमय ही है यह चीन्ह लें—
तो वह कभी भी नहीं सूखेगा।
असंख्य बुदबुदे आते ही रहेंगे
और समुद्र सूखनेवाला है ही नहीं।
ईश्वर चरणों में जीवभाव समर्पण किया जाय।
ज्ञानदेव बस यह एक ही मरण जानता है।

२१. ज्ञानदेव का अन्तिम उद्गार

— १५० —

अब दुनिया भर में निवृत्ति का धर्म जागे
और सर्वत्र हरिनाम का उत्साह रहे।
मेरी इहपर-कर्तव्य-भावना,
और पुरुषार्थ प्रेरणा,
दानमानादि सामाजिक प्रवृत्तियाँ,
और इन्द्रियों की विषय संबंधी वृत्ति
सभी खंडित हो चुकी हैं।
केवल एक नाम-स्मरण की लगन है।

× × ×

सद्गुरुरूप कल्प-वृक्ष की छाया में
कल्पना करने का काम ही नहीं रहा।
भक्तिरूप अमृत के निरंतर सेवन से—
चिंता नष्ट हो चुकी है।
मन हरि-प्रेमरूप वैकुंठानंद में मग्न है।
दोष शोधन होकर
पाप छूटने के कारण—
ताप भी भाग चुका है।

× × ×

वेद शास्त्रादिकों का रहस्य सुलझ गया है।
फलतः आत्माराम का संकेत पट गया है।
परिणाम-स्वरूप, मोहजाल-रूप वासना,
वासनाओं के अनेकविध आलंबन,
वासनाओं में से निर्माण हो सकनेवाली आगामी देहें,
और कुल हृदय की सर्व ग्रंथियाँ
अचानक टूट गयी हैं।

बुद्धि और बोध
दोनों का अनेक जन्मों का वियोग
अब खत्म हो गया है।
हाथ-पैरों में नया चैतन्य आया है।
आँख के भीतर आँख खुली है।
किंबहुना मैं ही आँख बन गया हूँ।
इसलिए सारा संतोष ही संतोष है।
देह का दिव्य परिवर्तन हुआ है,
मानो अमृत-कला ही उसमें उँड़ेल दी गयी है।
दस दिशाएँ पहले की तरह रिक्त नहीं रही हैं।
सघन भर गयी है।
सब ही ब्रह्मरूप होकर
विज्ञान फलित हुआ है।

निवृत्ति गुरु की यह कृपा है।
उन्होंने मेरा अंधत्व दूर किया,

और कि एक जीवनव्यापी दृष्टि दी।
उसके आधार से मैं जीया।
आत्माराम-रूप रमणीय अंजन आँखों में पड़ा।
माया की कालिख दूर हुई।
निवृत्तिनाथ ने ज्ञानदेव को ज्ञानगंगा में समाधि दी।
अब उन्हींका धर्म जागे।
और सर्वत्र हरिनाम का उत्साह रहे।



विनोबा-साहित्य

१. गीता-प्रवचन : गीता पर अनूठी पुस्तक। मौलिकता, सुबोधता और सरलता से ओतप्रोत। संशोधित नया संस्करण, जिसमें गीताध्याय-संगति के अलावा सन्तों के मराठी मूल वचन भी हैं। पृष्ठ ३१२, मूल्य १)

२. शिक्षण-विचार : शिक्षा के सम्बन्ध में मौलिक और क्रान्तिकारी विचार। आज की शिक्षा के मूल्य बदले बिना देश को स्वराज्य का पूरा आनन्द नहीं मिल सकता। दूसरा परिवर्धित संस्करण। पृष्ठ ३३६, मूल्य १॥)

३. त्रिवेणी : भूदान-यज्ञ की महान् भूमिका, गंगा-यमुना के पावन प्रदेश की पद-यात्रा और फिर प्रवचनों में से चुने गये आप्त-वचनों की यह 'त्रिवेणी' किसे न निर्मल बनायेगी? पृष्ठ १०४, मूल्य ॥)

४. साहित्यिकों से : साहित्यिक ईश्वर से भी ऊँचा है। उसका लक्षण है—प्रेमभरा दिल। वह या तो पूर्ण विरक्त हो या सृष्टि का उपासक भक्त। कबीर बुनकर न होता, तो कबीर नहीं बनता। वागीश्वरों से वाग्दान की अपील। दूसरा संस्करण। पृष्ठ १०४, मूल्य ॥)

५. कार्यकर्ता-पाथेय : सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्रार्थना आदि जीवन को ऊपर उठानेवाले व्रतों का सूक्ष्म और व्यावहारिक विवेचन। कार्यकर्ताओं के लिए ही नहीं, मानवमात्र के लिए परम उपयोगी प्रवचन। पृष्ठ १०४, मूल्य ॥)

६. सर्वोदय के आधार : सर्वोदय क्या है, उसका आधार क्या है, मन, समाज, सृष्टि और सरकार, इन चार चीजों पर जीवन का सारा ढाँचा कैसे खड़ा है, इसका सुन्दर विवेचन। पृष्ठ ६४, मूल्य ।)

७. एक बनो और नेक बनो : हमारा और सारे संसार का कल्याण तभी हो सकता है, जब हम एक बनें। इसके सरल उपाय इस पुस्तक में मिलेंगे। पृष्ठ ३२, मूल्य =)

८. **गाँव के लिए आरोग्य-योजना :** भारत गाँवो का देश है, उसकी स्वास्थ्य-समस्या हल करने की उपयोगी, सस्ती और व्यावहारिक सप्तविध योजना। पृष्ठ १६, मूल्य =)

९. **गाँव-गाँव में स्वराज्य :** स्वराज्य अभी दिल्ली तक ही आया है। उसे गाँव-गाँव में लाने के लिए क्या करना होगा, इसके सरल उपाय इस पुस्तिका में मिलेंगे। पृष्ठ ३२, मूल्य =)

१०. **भगवान् के दरबार में :** पुरी में जगन्नाथजी का दर्शन किये बिना लौटने पर विनोबाजी द्वारा किये गये तीन महत्त्वपूर्ण प्रवचन। इनमें बताया है कि सच्ची धर्म-दृष्टि क्या है। पृष्ठ २०, मूल्य =)

११. **व्यापारियों का आवाहन :** व्यापारियों के धर्म, उद्देश्य और कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए करुणा का राज्य स्थापित करने के लिए उनका आवाहन। पृष्ठ २०, मूल्य =)

१२. **स्थितप्रज्ञ-दर्शन :** विनोबा के शब्दों में—'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' एक शास्त्रीय पुस्तक है और साधकों को उससे बहुत मदद मिलती है, ऐसा अनुभव हुआ है। 'गीता-प्रवचन' के बाद की यह पुस्तक है। 'गीता-प्रवचन' जिसने पढ़ ली, वह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' का अधिकारी हो जाता है। पृष्ठ १७०, मूल्य १)

१३. **ईशावास्यवृत्ति :** 'ईशावास्य एक पूर्ण उपनिषद् है। याने पारमार्थिक जीवन का एक परिपूर्ण नक्शा उसमें थोड़े में खींचा गया है। वेदों का वह सार है और गीता का बीज है।····साधक की समग्र साधना उसमें थोड़े में आ गयी है, इसलिए प्रातःस्मरण के लिए वह बहुत उपयोगी है।' पृष्ठ ७६, मूल्य ।।।)

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी